शैव-सिद्धान्त और ईसाई धर्म

डॉ० कैलाश पति मिश्र

दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी ५

१९९६

कला प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशन
कला प्रकाशन
बी० ३३/३३-ए-१ न्यू साकेत कालोनी,
का०हि०वि०वि०, वाराणसी-५

प्रथम संस्करण-१९९६

मूल्य : २५० रुपया

कम्पोजिंग
सरिता कम्प्यूटर्स,
औरंगाबाद, वाराणसी।



कर्मयोगी

प्रातः स्मरणीय पूज्य पिता जी

स्वर्गीय स्वामी राम नरेश मिश्र

की पावन स्मृति में

सादर समर्पित

प्राक्कथन

धार्मिक सद्भाव विश्व की आवश्यकता है। धर्म हमें अपने जीवन का सार समझने में हमारी मदद करता है। हमें जीने की राह दिखाता है। परन्तु विश्व में अनेक धर्म हैं। अनेक धर्मों के अनुयाई हैं। प्रत्येक धर्म अपने आप को पूर्ण, तर्कसंगत एवं एकमात्र तथा सर्वश्रेष्ठ कहने की प्रवृत्ति धारण किए हुए है। अपने धर्मों के अनुयाई अपने धर्म के प्रसार–प्रचार में लगे हुए हैं। अनेक धर्मों के अनुयाई धर्मान्तरण की प्रक्रिया को भी अपने धर्म के प्रसार का अंग मानते हैं। विभिन्न धर्मों के अनुयायी धर्म के नाम पर दंगे-फसाद भी किया करते हैं। आज का विश्व प्रायः धर्म के नाम पर बँटने के लिए तत्परता के कगार पर बढ़ रहा है। इस ज्वलन्त समस्या का निराकरण कैसे हो सकता है? विश्व को विनाश की ओर बढ़ने से कैसे रोका जा सकता है? क्या विश्व में केवल एक और एकमात्र धर्म की स्थापना के द्वारा? अथवा एक सार्वभौम धर्म में आस्था के द्वारा? अथवा सर्वधर्मसद्भाव के द्वारा? अथवा धार्मिक सद्भाव के द्वारा?

भारतीय धार्मिक एवं धार्मिक दार्शनिक परम्परा में इनका निराकरण बहुत पहले से मौजूद है। भारतीय परम्परा में माना गया है कि 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' । एक ही सत्य को बहुतों ने (विद्वानों ने) विभिन्न प्रकार से कहा है। जिस प्रकार विभिन्न नदियों, नालों का जल अन्त में बहता हुआ महासमुद्र में मिल जाता है, वैसे ही सत्य की ओर जाने के अनेक मार्ग हैं। इस दृष्टि से विभिन्न धर्म सत्य तक पहुँचने अथवा सत्य को जानने के विभिन्न मार्ग हैं। यदि हममें इतनी उदारता आ जाय, यदि हमारी दृष्टि इतनी व्यापक हो जाय तो हममें धार्मिक सहिष्णुता आ सकती है। हममें धार्मिक सद्भाव पैदा हो सकता है। हम अपने धर्म का पालन सीख सकते हैं। परन्तु प्रश्न उठता है कि यह सम्भव कैसे होगा? इसका उत्तर है कि सभी धर्मों का सार तत्त्व समझने के बाद हममें यह भाव उत्पन्न हो सकता है। दूसरे धर्मों के मूल तत्त्व को न जानने के कारण ही हमारे अन्दर धार्मिक सद्भाव का अभाव पाया जाता है। अतः सभी धर्मों के मूल भाव को समझने का प्रयास करना आवश्यक है।

तुलनात्मक धर्म इस क्षेत्र में इस उत्तरदायित्व का निर्वाह करता है। इस उत्तरदायित्व निर्वाह की एक कड़ी के रूप में प्रस्तुत पुस्तक की रचना की गई है।

इसमें भारतीय परम्परा से शैव–सिद्धान्त को तथा पाश्चात्य परम्परा से ईसाई धर्म के कुछ सिद्धान्तों को तुलनात्मक अध्ययन के लिये लिया गया है। आशा है कि इस पुस्तक से शैव–सिद्धान्त तथा ईसाई धर्म को समझने में मदद मिलेगी।

डॉ० कैलाश पति मिश्र
दर्शन एवं धर्म विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-२२१००५.

विषयानुक्रमणिका



१. ऐतिहासिक एवं शास्त्रीय पृष्ठभूमि

सनातन धर्म की एक शाखा अथवा सम्प्रदाय के रूप में शैव धर्म अत्यन्त प्राचीन धर्म है। इसे यदि विश्व का प्राचीनतम धर्म कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। सिन्धु घाटी से प्राप्त पुरातत्त्व अवशेषों के आधार पर सैन्धव सभ्यता को विश्व की प्राचीनतम सभ्यता के रूप में जाना जाता है। इन अवशेषों में शैव धर्म के कुछ प्रतीकात्मक चिह्न यथा- शिवलिङ्ग, योनि, पशुपति की आकृति आदि प्राप्त होने के आधार पर ऐतिहासिक साक्ष्य जो अब तक प्राप्त हुए हैं, उनकी प्राचीनता के आधार पर, शैव धर्म को विश्व का प्राचीनतम धर्म कहा जा सकता है। शास्त्रीय साक्ष्य के रूप में रुद्र-शिव के उद्धरण ऋग्वेद से ही प्राप्त होते मिलते हैं। शैव-सिद्धान्त इसी प्राचीनतम शैव धर्म की एक उपशाखा अथवा सम्प्रदाय है। यह विशेषकर दक्षिण भारत के तमिल भाषी प्रान्त में पल्लवित एवं पुष्पित हुआ।

शैव परम्परा में प्रचलित अनुश्रुतियों के आधार पर ऐसी मान्यता में विश्वास किया जाता है कि भगवान् शिव ने शैवागमों के प्रचार के लिए महर्षि दुर्वासा को निर्देश दिया। दुर्वासा ने शैवागमों की शिक्षा अपने तीन मानस पुत्रों (शिष्यों) त्र्यम्बक, अमर्दक और श्रीनाथ को दिया। त्र्यम्बक को दी गई शिक्षा पर काश्मीर शैव दर्शन आधारित है तथा ऐसा कहा जाता है कि दुर्वासा द्वारा अमर्दक और श्रीनाथ को दी गई द्वैत और द्वैताद्वैत शिक्षाओं पर शैव-सिद्धान्त आधारित है, जिसके आधिकारिक स्रोत २८ आगम हैं जिनमें १० द्वैतवादी तथा १८ द्वैताद्वैतवादी हैं। इन आगमों का समय १६००० से १४५५० ई० पूर्व अनुमान किया जाता है किन्तु इनके आविर्भाव काल के सम्बन्ध में अभी तक कोई स्पष्ट अवधारणा निश्चित नहीं की जा सकी है। शैवागमों में १० ईश्वर के प्रकाशन कहे जाते हैं तथा १८ व्यक्ति द्वारा सीधे अनुभव किए हुए कहे जाते हैं। ईश्वर के प्रकाशन कहे जाने वाले आगमों में-- कामिक, योगज, चिन्त्य, कारण, अजीत, दीप्त, सूक्ष्म, साहस्रक, अन्शुमान और सुप्रभ हैं। मनुष्य द्वारा अनुभूत किए हुए कहे जाने वाले आगमों में-- विजय, निष्वास, स्वायम्भुव, आग्नेयक, भद्र, रौरव, माकुट, विमल, चन्द्रहास, मुखयुगबिम्ब, उद्गीत, ललित, सिद्ध, सन्तान, नारसिंह, परमेश्वर, किरण और पर आगम हैं। कालान्तर में इन आगमों पर वृत्तियाँ लिखी गई। इनमें पौष्कर-आगम, मृगेन्द्र आगम और मातंग आगम पर लिखी गई वृत्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। भट्ट रामकण्ठ

(११वीं शती ई०) की मातंगवृत्ति, नारायणकण्ठ (११वीं शती ई०) की मृगेन्द्र वृत्ति तथा अघोरशिव (१२वीं शती ई०) की मृगेन्द्र वृत्ति दीपिका है। उमापति शिवाचार्य (१४वीं शती ई०) का पौष्कर भाष्य तथा धारा के राजा भोज (११वीं शती ई०) की तत्त्व प्रकाशिका है। इस कृति पर दो टीकाएँ हैं, एक श्रीकुमार की तथा दूसरी अघोरशिव की हैं। सद्योज्योति (१०वीं शती ई०) द्वारा लिखी गई 'तत्त्व संग्रह' और 'तत्त्व-त्रय-निर्णय' महत्वपूर्ण हैं जो अघोर शिव के अनुसार रौरव और स्वायम्भुव आगमों के विद्यापाद पर आधारित हैं। सद्योज्योति की ही 'भोग-कारिका' और 'मोक्षकारिका' है। भट्ट रामकण्ठ की 'नाद कारिका' है जिस पर अघोरशिव की टीका भी है।

शैव-शिद्धान्त की धार्मिक परम्परा में प्रचलित मान्यता के अनुसार भगवान् शिव ने स्कन्द और नन्दी को शैव-सिद्धान्त धर्म का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से दिया तथा इसके प्रचार एवं प्रसार के लिए उन्हें आचार्य नियुक्त किया। इन आचार्यों द्वारा दो भिन्न गुरू परम्परायें स्थापित हुईं हो स्कन्द परम्परा और नन्दी परम्परा के रूप में ज्ञात हैं। ऐसा कहा जाता है कि जो कुछ शिव ने स्कन्द को प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा दिया, उसे उन्होंने (स्कन्द ने) वामदेव को उपदेश दिया तथा वामदेव ने नीलकण्ठ शिवाचार्य को। उनके द्वारा वह शिक्षा विश्वेश्वर को प्राप्त हुई तथा उनसे सदाशिव शिवाचार्य को। वे शिक्षाएँ उसके बाद शिवमन्त्रप्रकाश को तथा उसके बाद शिवाग्रयोगी को प्राप्त हुईं जिन्होंने उसे अपने शिष्यों को प्रदान किया। इस प्रकार गुरू परम्परा के माध्यम से शैव-सिद्धान्त धर्म के विचारों तथा सिद्धान्तों का प्रचार एवं प्रसार होता रहा।

शैव-सिद्धान्त के विकास काल की प्रारम्भिक अवस्था में शैव सन्तों ने अपने गीतों द्वारा महत्त्वपूर्ण योगदान किया। शैव सन्तों द्वारा शिव की स्तुति में लिखे गये गीतों को नाम्पीय-आन्तार नाम्पी ने ग्यारहवीं शती ई० में संकलित किया जो बारह तिरुमुरै के नाम से ज्ञात है। 'तिरुमुरै' की प्रथम सात पुस्तकें 'तेवारम' हैं जो अप्पर, सम्बन्दर और सुन्दरर द्वारा शिव की स्तुति में लिखे गये भक्तिपरक गीतों का संकलन है। इन पुस्तकों को 'तमिल वेद' भी कहा जाता है। अप्पर का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है तथा सम्बन्दर अप्पर के समकालीन थे। सुन्दरर का समय आठवीं शताब्दी अथवा नवीं शताब्दी ई० का पूर्वकाल था। आठवीं पुस्तक मानिक्क वासकर का 'तिरुवाचकम' और 'तिरुकोवैयार' से सम्बन्धित है जिनका समय नवीं शताब्दी ई० था। यह पुस्तक भी तेवारम के समान 'तमिल वेद' मानी जाती है। नवीं पुस्तक 'तिरुविसैप्पा और तिरुप्पलान्दु से सम्बन्धित है। प्रथम नौ शैव सन्तों

के गीतों का संग्रह है। दूसरी शिव की स्तुति में चेन्तनार द्वारा रचित 'कविता है। दसवीं पुस्तक तिरुमूलर की 'तिरुमन्तिरम' है जो सम्भवतः पाँचवी या छठी शताब्दी ई० की रचना है। ग्यारहवीं पुस्तक 'पतिनारन-तिरुमुरै' है जिसमें बारह शैव सन्तों की कवितायें हैं। बारहवीं पुस्तक शेक्किलार की 'पिरिया-पुराण' है। इस पुस्तक में तिरसठ तमिल शैव भक्तों की जीवनी है।

शैव-सिद्धान्त धर्म का दार्शनिक विकास काल आठवीं शती ई० से तेरहवीं शती ई० माना जाता है। शैव-सिद्धान्त के दार्शनिक विकास में सर्वप्रथम 'मेइकण्डदेव' का नाम आता है जिन्होंने इस धर्म के दार्शनिक रूप को सुव्यस्थित ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया। इस काल की दार्शनिक कृतियों को 'मेइकण्ड शास्त्र' कहा जाता है। यद्यपि सर्वप्रथम मेइकण्ड ने ही इस दर्शन को सुव्यवस्थित रूप दिया किन्तु इनके पूर्व की दो कृतियाँ भी महत्वपूर्ण होने से 'मेइकण्ड' शास्त्र में इंगित हैं।

'मेइकण्डशास्त्र' की सर्वप्रथम पुस्तक 'तिरुवन्तियार' है जिसकी रचना ११४७ई० में होना माना गया है तथा दूसरी पुस्तक 'तिरुक्कलिरुप्पतियार' है जिसकी रचना ११७७ ई० में होना कहा गया है। दोनों ही कृतियों के लेखक का नाम उय्यवन्तदेव है, किन्तु प्रथम पुस्तक के लेखक तिरुवियुलूर के हैं तथा दूसरी पुस्तक के लेखक तिरुकडवूर के हैं।'मेइकण्डशास्त्र' की तृतीय पुस्तक मेइकण्डदेव द्वारा रचित 'शिवज्ञानबोधम्' है। इसे तेरहवीं शती ई० की रचना माना गया है। शिवज्ञानबोधम् शैवागमों के दार्शनिक विषयों का मूल्यांकन है तथा शैव-सिद्धान्त के विकास में इस ग्रन्थ की प्रमुख भूमिका है। इसमें 'अद्वैतवाद' को एक नये रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसकी भेद और अभेद मात्र विशिष्टतायें हैं। चतुर्थ पुस्तक अरुलन्दी द्वारा रचित 'शिवज्ञानसिद्धि' है। यह पुस्तक १२०० ई० से १२५०ई० के बीच किसी समय लिखी गई। अरुलनन्दी के विषय में कहा जाता है कि मेइकण्डदेव ने शैवसिद्धान्त को व्यवस्थित रूप दिया तथा उनसे बचे कार्यों को उनके शिष्य अरुलनन्दी ने पूरा किया। शैव-सिद्धान्त की तत्त्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा का प्रतिपादन अरुलनन्दी ने किया। शिवज्ञानसिद्धि के दो भाग परपक्कम और सुपक्कम हैं। पूर्ववर्ती में अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन है तथा परवर्ती में शैव-सिद्धान्त के मौलिक सिद्धान्त हैं। अरुलनन्दी की ही कृति 'इरुपाविरुपतु' मेइकण्ड शास्त्र की पञ्चम पुस्तक है। मेइकण्डशास्त्र की छठी पुस्तक 'उन्मै-नेरिविलक्कम' है जो मनवासकम-कडन्तदेव की रचना है। इसमें सृष्टि के छत्तीस तत्त्वों का विवरण प्रमुख रूप से है। मेइकण्डशास्त्र की शेष आठ पुस्तकें उमापति

शिवाचार्य की रचना हैं जो शिव प्रकाशम, तिरुवरुत्पयन, वीना-वेन्बा, परिपहरोदै, कोडिक्कवि, नेन्जु-विदु-तूतु, उन्मै नेरि-विलक्कम तथा संकर्पनिराकरणम हैं। उमापति शिवाचार्य का समय १४वीं शती ई० माना गया है। उमापति ने अपने पूर्वजों के कार्यो को दो दिशाओं में पूरा किया। उन्होंने मेइकण्डदेव के अद्वैतवाद को स्पष्ट किया तथा शैव-सिद्धान्त को शैव दर्शन के अन्य आन्तरिक सम्प्रदायों से अलग प्रस्तुत किया। उमापति के शिवप्रकाशम् को प्रारम्भिक सभी कृतियों का पूरक समझा जा सकता है। चौदहवीं से अठारहवीं शती ई० में लिखी गयी टीकाओं का भी शैव-सिद्धान्त के दार्शनिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान है। इसमें उमापति का पौष्कर भाष्य, सतरत्नसंग्रह, शिवाग्र भाष्य तथा अप्पय की शिवार्कमणि दीपिका उल्लेखनीय है।

ईसाई धर्म ईसा मसीह द्वारा प्रवर्तित धर्म है। ईसाइयों का धर्मग्रन्थ बाइबिल है। यह धर्मग्रन्थ दो भागों में विभक्त है। इसके पूर्वार्द्ध भाग को 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' तथा उत्तरार्द्ध भाग को 'न्यू टेस्टामेन्ट' कहते हैं। 'न्यू टेस्टामेन्ट' सम्पूर्ण बाइबिल का केवल एक चौथाई है। 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' में ५६ ग्रन्थ हैं तथा 'न्यू टेस्टामेन्ट' में २७ ग्रन्थ शामिल हैं। यहूदी केवल 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' को धर्मग्रन्थ मानते हैं किन्तु ईसाई 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' तथा 'न्यू टेस्टामेन्ट' दोनों को ही स्वीकार करते हैं। 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' में ईसा से पहले के पैगम्बरों की वाणी एवं विधानों का उल्लेख है। न्यू टेस्टामेन्ट ईसा की मृत्यु के बाद उनके शिष्यों ने लिखा। ईसाईयों की ऐसी मान्यता है कि ८०ई० तक समस्त 'न्यू टेस्टामेन्ट' लिखा जा चुका था। ओल्ड टेस्टामेन्ट तथा न्यू टेस्टामेन्ट की विचारधारा में कोई मौलिक अन्तर अथवा विरोध नहीं पाया जाता। दोनों में जो अन्तर पाया जाता है वह केवल इतना कि ओल्ड टेस्टामेन्ट के यज्ञमय और कर्मकाण्डमय प्रवृत्ति मार्ग के स्थान पर ईसा के शिष्यों द्वारा वर्णित उनके उपदेशों में मानव प्रेम से ओत-प्रोत भक्तिमय संन्यास है।

ईसाइयों के अनुसार पूर्ववर्ती भाग उत्तरवर्ती के बिना अपूर्ण है अथवा उत्तरवर्ती पूर्ववर्ती का पूरक है। उत्तरवर्ती ग्रन्थों की रचना पहली शताब्दी में हुई। पूर्ववर्ती भाग का सबसे पुराना ग्रन्थ आमोस नबी का माना जाता है जो ८वीं शती ई० पू० की रचना समझा जाता है। पूर्ववर्ती भाग के सबसे अर्वाचीन ग्रन्थ के रूप में प्रज्ञा ग्रन्थ को माना जाता है जिसकी रचना ५० ई० पूर्व के आसपास हुई। ओल्डटेस्टामेन्ट के ग्रन्थों को तीन वर्गो में विभाजित किया जाता हैं-- ऐतिहासिक प्रज्ञा ग्रन्थ, नबियों के ग्रन्थ तथा लेखकों के ग्रन्थ। लेखकों में सबसे प्रसिद्ध मूसा नबी (१३वीं सदी ई०पू०) दाऊद राजा (१०००ई० पू० के आसपास) तथा

इसायस (८वीं शती ई०पू०) हैं। बाइबिल के पूर्ववर्ती भाग के सभी ग्रन्थ ईसवी पूर्व में रचित हैं जबकि बाइबिल के उत्तरवर्ती भाग अर्थात् 'न्यू टेस्टामेन्ट' के सभी ग्रन्थों का रचना काल ईसा मसीह की मृत्यु से लेकर पहली शताब्दी के अन्त तक का है। ईसा मसीह ने स्वयं कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। उनके जीवन-काल में और उनकी मृत्यु के बाद भी अनेक वर्षों तक ईसाई धर्म के प्रचार का मुख्य साधन मौखिक उपदेश ही था। धीरे-धीरे ईसा के शिष्यों ने उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं को तथा उनके उपदेशों को लिपिबद्ध करना आरम्भ किया। इन्ही का संकलन 'न्यू टेस्टामेन्ट' है। ईसा के जीवन के विषय में हमारी जानकारी का मुख्य आधार उनके प्रसिद्ध शिष्य- मैथ्यू, मार्क, ल्यूक और जान द्वारा लिखे गये संस्मरणात्मक लेख हैं जो 'पवित्र सन्देश' (गास्पेल्स) के नाम से प्रसिद्ध हैं।

न्यू टेस्टामेन्ट में संग्रहीत ग्रन्थों में पहला 'सुसमाचार' अर्थात् 'शुभ सन्देश' है जिसमें ईसा मसीह के चार जीवन चरित हैं। इनमें से पहले तीन बहुत हद तक मिलते जुलते हैं, इस कारण ये 'सहदर्शी सुसमाचार' कहलाते हैं। ईसाई परम्परा की मान्यता के अनुसार 'सुसमाचार' के लेखक हैं--संत मत्ती, सन्त मारकुस, संत लूकस और सन्त योहन। संत लूकस 'प्रेरित चरित' नामक एक दूसरी रचना के भी लेखक हैं जिसमें उन्होंने ईसा मसीह के आदि शिष्यों के धर्म प्रचार का वर्णन किया है। मौलिक 'सुसमाचार' के अलावा सन्त योहन के और तीन 'पत्र' उपलब्ध हैं। उन्होंने अपने 'प्रकाशन' ग्रन्थ में प्रतीकात्मक दर्शनों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त अन्य दूसरे आदि-शिष्यों के भी अनेक 'पत्र' मिलते हैं जिनमें सबसे प्रसिद्ध हैं सन्त पौलुस के पत्र। इन पत्रों में भिन्न-भिन्न आदि 'कलीसियाओं' अर्थात् धर्म मण्डलियों के नाम दिए गए उपदेश के रूप में धर्म सिद्धान्तों का प्रतिपादन मिलता है। न्यू टेस्टामेन्ट की मूल भाषा यूनानी है। ओल्ड टेस्टामेन्ट के अधिकांश ग्रन्थों की भाषा इब्रानी है जबकि दो-तीन ग्रन्थों के मूल पाठ यूनानी भाषा में मिलते हैं।

ईसा मसीह के जीवन चरित के विषय में, उनके व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं, प्रत्यक्ष रूप-रंग, आकार-प्रकार आदि के विषय में प्रामाणिक जानकारी के रूप में बहुत कम जानकारी मिलती है। ईसाई मान्यताओं के अनुसार वह एक यहूदी बढ़ई थे। ईसाईयों के पैगम्बर हजरत ईसा यहूदियों के आदि पैगम्बर हजरत इब्राहिम के वंशज थे। इसी परिवार में हजरत ईसा से पहले यहूदियों के प्रसिद्ध पैगम्बर हजरत मूसा (मोज़ेज़) हुए थे। ईसा मसीह का जन्म फिलिस्तीन के बेथलहेम नामक नगर में हुआ था। इनकी माता का नाम मरियम तथा पिता का नाम जोसफ

था। इनके पिता बढ़ई का काम किया करते थे। बाइबिल के अनुसार माता मेरी की कोख में बालक ईसा ईश्वरीय विधान से आये थे, किसी पुरुष के सम्पर्क से नहीं। इस प्रकार बालक ईसा का जन्म विश्व की एक विलक्षण घटना थी। ऐसी मान्यता है कि इनकी माता कुंवारी अवस्था में ही गर्भिणी हो गयी जिसके कारण इनके पिता का उनके प्रति शंकालु होना स्वाभाविक था। इसी समय स्वप्न में उन्हे एक देवदूत के दर्शन हुए जिसने कहा कि मरियम के साथ विवाह करने में उन्हें कोई हिचक नहीं होनी चाहिए। देवदूत ने जोसफ को बताया कि मरियम के गर्भ में ईश्वर का पुत्र है। जोसफ ने इसे ईश्वर की आज्ञा समझकर शिरोधार्य किया तथा मरियम से विवाह किया। इस प्रकार ईसा मसीह का जन्म हुआ। इनके जन्म-स्थल के विषय में यह कहा जाता है कि इनका जन्म अस्तबल में हुआ था।

ईसा मसीह के जन्म-काल के समय फिलिस्तीन में राजा हेरोद का राज्यकाल था। हेरोद बड़ा अत्याचारी शासक था। बाइबिल में भी इसका वर्णन अत्याचारी शासक के रूप में हुआ था। बाइबिल की कथा के अनुसार जीसस के जन्म के बाद हीरोद को एक भविष्यवाणी के द्वारा यह ज्ञात होने पर कि बेथलहेम में एक बालक का जन्म हुआ है, जो सम्राट बनेगा, उसने नगर के समस्त दो वर्ष के छोटे बालकों को मरवा डाला। परन्तु जोसफ को पहले ही इसका अनुमान हो गया था, अतः जोसफ और मेरी जीसस को लेकर पहले ही मिस्र चले गये थे। हेरोद की मृत्यु होने के बाद जोसफ फिलिस्तीन लौट आये और अपने पुराने नगर नाजारेथ में रहने लगे। ईसा मसीह नाज़ारेथ में पले बढ़े।

ऐसा कहा जाता है कि बालक जीसस गरीबी के कारण स्कूली शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके थे। वे पहाड़ियों तथा वनों में घूमा करते थे। उन्होंने प्रकृति के साहचर्य से बहुत कुछ सीखा। प्रकृति के सौन्दर्य से उन्हें अत्यधिक प्रेम था। वह प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को समझने का सर्वदा प्रयत्न किया करते थे। उस समय की सामान्य बोचलाच की भाषाएं ग्रीक तथा आरामेक उन्हें खूब आती थीं। उन्हें हेब्रू तथा लेटिन का भी सामान्य ज्ञान था। उन्होंने घर में धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया था। बारह वर्ष की अवस्था में बालक जीसस ने अपने पैतृक पेशे बढ़ईगीरी को सीखने तथा सिनेगाग (यहूदी गिरजाघर) में जाना आरम्भ किया। परन्तु इसी समय विलक्षण घटना घटी जिसने जीसस के असाधारण व्यक्तित्व के होने का संकेत किया। प्रत्येक वर्ष जोसेफ यहूदियों के वार्षिक उत्सव में सम्मिलित होने के लिए जेरुसलम जाते थे। वे इस वर्ष भी गये। जाते समय तो जीसस उनके साथ थे, पर लौटते समय मेरी ने देखा कि जीसस उनके साथ नहीं है। बड़ी खोज के बाद तीसरे दिन जीसस एक

मन्दिर में शास्त्राचार्यों के साथ तर्क-वितर्क करते हुए मिले। जब तीन दिन से परेशान माता मेरी ने जीसस के इस प्रकार चुपचाप मन्दिर में जाने का कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया, "आपने मेरी खोज ही क्यों की? क्या आपको यह नहीं मालूम था कि मैं अपने पिता (परमेश्वर) के कार्य में व्यस्त मिलूँगा?" इस घटना के बाद जीसस के जीवन के १८ वर्षों का कोई क्रमानुसार वर्णन नहीं मिलता। ऐसा अवश्य समझ में आता है कि उन्होंने इस लम्बे समय को नजारेथ में ही व्यतीत किया। जोसेफ की सम्भवतः मृत्यु हो गई थी, क्योंकि बाद के वर्णन में इनका कहीं नाम नहीं आता, अतः जीसस अपने पिता के पेशे के द्वारा ही हल और जुआ बना कर जीविकोपार्जन कर अपना, अपनी माता और भाइयों का भरण-पोषण करते रहे।

तीस वर्ष की आयु में जीसस बपतिस्मा लेने के लिए जॉन के पास गये। जान जीसस के एक रिश्ते के भाई थे और बपतिस्मा देने वाले के रूप में प्रसिद्ध थे। उस समय उस प्रदेश को जागरित करने वाले त्यागी धर्म प्रचारक जॉन थे। उन्होंने ईसा मसीह को बपतिस्मा देकर धर्म में दीक्षित किया। ईसा मसीह प्रारम्भ से ही विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। प्रायः ये साधु सन्तों से धार्मिक चर्चा में लगे रहते थे। जान लोगों से अपने पापों का प्रायश्चित करके नया पवित्र जीवन शुरू करने के लिए कहते। इस अन्तःकरण की नवीन पवित्रता के बाह्य प्रतीक के रूप में वे लोगों को जार्डन नदी में स्नान करने के लिए आदेश देते थे। यह स्नान ही बपतिस्मा देना कहा जाता था। वे कहा करते थे कि निकट भविष्य में पैगम्बर का उदय होने वाला है जो पानी के स्थान पर लोगों को 'पवित्र आत्मा' से बपतिस्मा देगा। तीस वर्ष की अवस्था में जीसस बपतिस्मा लेने के लिए जॉन के पास गये थे। जॉन ने उनकी अद्भुत प्रतिभा तथा पवित्र और छल रहित आत्मा को पहचान लिया था। जीसस के पैगम्बर रूप में आने की घोषणा जॉन ने ही की थी। जीसस को बपतिस्मा देने में जॉन को संकोच हुआ था क्योंकि बपतिस्मा केवल पापी ही लेते थे। फिर भी जीसस ने बपतिस्मा लिया। बाइबिल के अनुसार इसी समय जीसस में 'पवित्र आत्मा' ने प्रवेश किया। इसके तुरन्त बाद जीसस वन में चले गये जहाँ चालीस दिन और चालीस रात निराहार रह कर उन्होंने विकारों के साथ संघर्ष किया और सांसारिक प्रलोभनों पर विजय प्राप्त किया।

धीरे-धीरे जीसस के उपदेश और चमत्कारों के कारण उनका यश फैलने लगा। जहाँ-जहाँ वे जाते लोग उनको घेर लेते और उनके प्रभाव से अपनी व्याधियाँ दूर करते। एक बार जब विभिन्न स्थानों से आई एक भीड़ ने उन्हें घेर लिया तो वे एक पहाड़ी पर चढ़ गये और वहाँ बैठकर उन्होंने वह उपदेश दिया जो 'पहाड़ी

के उपदेश' (सर्मन आन द माउन्ट) के नाम से प्रसिद्ध है। यह अत्यन्त सरल परन्तु अर्थगम्भीर वाक्यों में कहा गया वह संदेश है जो तब से आज तक ईसाइयों के नैतिक और धार्मिक मूल्यों की आधार-शिला बना हुआ है। जीसस जहाँ भी जाते लोग उनका जोरदार स्वागत करते। इससे विरोधी जलने लगे तथा उनकी हत्या का षड़यन्त्र करने लगे। जेरूसलम नगर के मुख्य पुरोहित ने तीस चाँदी के सिक्कों का लालच देकर जीसस के एक शिष्य को इस शर्त पर मिला लिया कि वह जीसस को रात्रि में पकड़वा देगा। एक दिन जीसस जेरुसलम के निकट एक वन में अपने कुछ शिष्यों के साथ गये। उसी वन में रात्रि के समय प्रमुख पुरोहित के व्यक्तियों ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। पुरोहित और शास्त्रियों की सभा में जीसस को पेश किया गया। वहाँ जीसस ने अपने को मसीहा स्वीकार किया। यहूदियों के मसीहा का स्थान सम्राट से कम नहीं होता था। जीसस के अपने को मसीहा घोषित करने का तात्पर्य सम्राट को चुनौती माना जाता था। फलतः विरोधियों ने जीसस को जी भर अपमानित किया और वहाँ के रोमन गवर्नर पाइलेट के पास ले गये। पाइलेट ने उपस्थित भीड़ से पूछा कि वे क्या चाहते हैं। भीड़ ने चिल्ला कर कहा, "सूली पर चढ़ाओ"। इस सजा के अनुसार अपराधी को एक बड़े क्रास को स्वयं लाद कर ले जाना पड़ता था। दण्डस्थल पर उसी क्रास पर, हाथों तथा पैरों में कील गाड़ कर अपराधी को टांग दिया जाता था। अपराधी की मृत्यु हो जाने पर क्रास उतार कर अपराधी को दफना दिया जाता था। अपने क्रास को जीसस अधिक दूर न ले जा सके और बेहोश हो गए। सिपाहियों ने एक अन्य व्यक्ति साइमन से क्रास को निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचवाया। जीसस के हाथों और पैरों में कील गाड़ कर उन्हें क्रास पर लटका दिया गया। उसी पर लटके-लटके उनकी मृत्यु हो गई। मरने से पहले उनके शब्द थे "हे पिता मैं अपनी आत्मा तेरे हाथों में अर्पित करता हूँ।"

इस घटना से जीसस के शिष्य बहुत भयभीत हो गये। वे इधर-उधर भाग गये। जो साहसी थे वे उनकी मृत्यु के समय उपस्थित थे, पर उन्होंने विरोध नहीं किया। सम्भवतः इस प्रकार विरोध न करने का जीसस का आदेश रहा होगा। जूडास, जिसने जीसस को धोखा देकर पकड़वाया था, अपने कृत्य से बाद में बड़ा दुखी हुआ और फाँसी लगाकर उसने अपने जीवन का अन्त कर दिया। पर जीसस ने जो ज्योति अपने शिष्यों को दी थी वह बुझी नहीं। उनकी मृत्यु के कुछ ही सप्ताह बाद उनके कुछ शिष्य जेरुसलम में एकत्र हुए। जीसस के प्रति प्रेम, भक्ति, श्रद्धा और अगाध विश्वास उन्हें एक सूत्र में बाँधे था। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि जीसस की मृत्यु नहीं हुई है, वे जीवित हैं। उन्हें यह भी पूरा विश्वास था कि जीसस पुनः

मसीहा के रूप में उनके बीच में लौटेंगे। उनके इस विश्वास की दृढ़ता ने ही उस समय ईसाई धर्म की नींव डाली और इसी विश्वास के आधार पर ईसाई धर्म पल्लवित और विकसित हुआ।

ईसाई धर्म की मान्यताओं के अनुसार जॉन से बपतिस्मा लेने के बाद जीसस प्रार्थना के लिए रेगिस्तान चले गये थे। वहाँ उन्हे दैवी अनुभूति हुई जिसमें उन्हें पाप से प्रायश्चित का नया मार्ग सूझा। वे इस नयी अनुभूति की व्याख्या तथा उपदेश किये। उनके उपदेशों द्वारा अनेक लोगों को आध्यात्मिक जागृति का अनुभव हुआ था। यहीं से उनके नये धर्म का प्रचार प्रारम्भ हुआ था। उनके अनुयाई बढ़ने लगे थे। यहूदी समाज का एक वर्ग इन्हें मसीहा मानने को तैयार नहीं हुआ था। कालान्तर में उनके साथी उनके विरोधी हो गये थे। रोमवाले उन्हें सन्देह से देखने लगे थे। अन्त में येरुशलम में उन्हें सूली पर चढ़ाया गया था। जीवन के तैंतीसवें वर्ष में उन्हें सूली पर चढ़ा दिया गया था। उस समय उनपर आरोप लगाकर, अपराधी बनाकर सलीब पर कीलें ठोंककर मार दिया गया था। उनके विषय में कहा जाता है कि वे अपने जन्मस्थल से नब्बे मील की दूरी से परे कहीं यात्रा पर नहीं गये। उनके पास कोई धन, वैभव, प्रासाद-ऐश्वर्य, भौतिक सम्पत्ति नहीं थी। वह किसी कालेज या युनिवर्सिटी में पढ़ने नहीं गये थे। उनके पास कोई सेना नहीं थी। उन्होंने किसी पुस्तक या ग्रन्थ की रचना नहीं किया था। उनके विषय में यह कहा जाता है कि वे बालू पर लिखा करते थे। ऐसे अज्ञात कुलशील साधारण मनुष्य का जन्मदिन आज भी सारी दुनिया में मनाया जाता है तथा इनके धर्मानुयाई विश्व में सर्वाधिक हैं। उस व्यक्ति की महानता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है।

ईसाई धर्म-ग्रन्थों में ईसा मसीह द्वारा किये गये चमत्कारों का अनेकशः वर्णन मिलता है। उनके प्रभाव से अन्धों को ऑखें मिलने, लँगड़ों के चलने तथा कोढ़ियों के ठीक हो जाने का वर्णन मिलते हैं। ईसा की यह विशेषता है कि उन्होंने सारे चमत्कार चुपचाप किये। अपनी अलौकिक शक्तियों का प्रचार नहीं किया। ईसा सहज भाव से समाज के सबसे निचले स्तर में वेश्याओं और कर वसूलने वालों तक में घूमते थे। वे निराश जनता को आशा की किरणें बाँटते थे। उनके संकटों में सलाह देते थे। वे इतनी लगन और निष्ठा से यह कार्य करते थे कि धीरे-धीरे जनता में यह विश्वास दृढ़ हो गया कि यदि ईश्वर परम और शुद्ध शिव है तथा अच्छाई का प्रतीक है तो ईसा मानो उसी का मानवी रूप है। जो उनके निकटतम थे, वे उन्हें देवता मानने लगे। लोग उन्हें ईश्वर द्वारा प्रेषित दूत या मसीहा मानने लगे।

न्यू टेस्टामेन्ट में वर्णित है कि ईसा के सलीब पर कीलें ठोंककर मरने के लिए छोड़ दिये जाने के तीसरे दिन मेरी वहाँ गई तो उसने देखा कि कब्र पर का पत्थर हटा दिया गया है और कब्र खाली है। इसके बाद उसे और अन्य अनुयायियों को ईसा के दर्शन कभी-कभी होते रहे। इस बात में ईसा मसीह के मानने वाले विश्वास करने लगे। भूमध्यसागर क्षेत्र में यह बात फैल गई कि ईसा मृत्यु के बाद जाग गया है- पुनर्जागरित हुआ है। सब यह मानने लगे कि येशु मसीह की तरह उसके अनुयायी भी मृत्यु और पाप पर विजय प्राप्त करेंगे। आरम्भिक ईसा-मतानुयायी अक्षरशः मानते थे कि मृत ईसा का शव जीवित हो उठा है। इस घटना में सत्य की विजय, शक्ति और सामर्थ्य का प्रत्यय जनसाधारण ने अनुभव किया। ईसा के जीवन के अनुयायी जन ईश्वर की अच्छाई और प्रेम-भावना पर अधिक निष्ठा रखने लगे। ईसा की मृत्यु के बाद उनकी निष्ठा ईश्वर की शक्ति पर बढ़ गई। प्रायः सभी ईसाई ईसा के शारीरिक पुनर्जागरण में विश्वास करते हैं। जो नहीं भी करते हैं, वे उस कथा को प्रतीकात्मक मानते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि वाले ईसाई मृत्यु के बाद शरीर का पुनर्जागरण असम्भव मानते हैं। पर वे भी, ईश्वर की असीम शक्ति से कुछ भी अघटित घटित हो सकता है, ऐसा मानते हैं। इसलिए, क्रिसमस का सप्ताह और ईस्टर तक का समय वे अत्यन्त पवित्र मानते हैं। ईसा की अलौकिकता में उनका भी विश्वास होता ही है।

ईसा की मृत्यु के बाद उनके बारह शिष्यों ने उनका सन्देश सारी दुनिया में फैलाने का प्रयास आरम्भ किया। वे ईसा के पवित्र शब्द (गास्पेल) का प्रचार-प्रसार करने लगे। इसे उन्होंने 'सुसमाचार' कहा। बहुत शीघ्र ही इसने लोगों को प्रभावित करना आरम्भ कर दिया। ईसा के मत का प्रचार प्रसार होने लगा। ईसा के अनुयाई बढ़ने लगे। कालान्तर में ईसाई मत के भीतर भी कई सम्प्रदाय निर्मित हो गये। रोमन कैथोलिक मत रोम के वैटिकन में केन्द्रित हुआ। उसके मुख्य धर्माध्यक्ष पोप हैं। वहीं से वह केन्द्रीय और दक्षिण यूरोप, आयरलैण्ड तथा दक्षिण अमेरिका में फैला। प्रोटेस्टेन्ट पंथ मार्टिन लूथर के सुधारवाद के बाद उत्तर यूरोप, जर्मनी, इंगलैन्ड, स्काटलैन्ड और उत्तर अमेरिका में फैला। तीसरा बड़ा सम्प्रदाय पूर्वीय प्राचीन पंथ है, जिसका प्रभाव यूनान और पूर्व के स्लाव देशों में, विशेषतः क्रांतिपूर्व रूस में रहा। सन् ३१३ ईस्वी तक ईसाई-मत रोमन अत्याचारों का शिकार बना रहा। उस वर्ष में उसे वैध मान्यता मिली और उसे साम्राज्य के अन्य धर्मों के साथ समान दर्जा दिया गया। सन् ३८०ई० में वह रोमन साम्राज्य का सरकारी धर्म बन गया। नेस्टोरियन जैसे थोड़े उप-पन्थियों

को छोड़कर सन् १०५४ ई०तक वह बराबर एक धर्म बना रहा। इस वर्ष धर्म में पूर्व के प्राचीनतावादी और पश्चिम के रोमन कैथोलिकों में बड़ा विभेद निर्मित हुआ। सोलहवीं शती में प्रोटेस्टेंट धर्म का अलग सम्प्रदाय बना, जिसकी चार शाखाएँ हुईं-- बैप्टिस्ट, लूथरन, कैल्विनिस्ट और अंग्लिकन। आज अकेले अमेरिका में ईसाई धर्म के २५० उपपन्थ हैं।[१]

ईसाई धर्मशास्त्र को पाँच भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है-- (१) बाइबिल पूर्वार्द्ध (ओल्ड टेस्टामेन्ट), (२) बाइबिल उत्तरार्द्ध (न्यू टेस्टामेन्ट), (३) पूर्वाचार्यों का साहित्य, (४) मध्यकालीन ईसाई धर्मशास्त्र, (५) आधुनिक और समकालीन ईसाई धर्मशास्त्र।

बाईबिल पूर्वार्द्ध (ओल्डटेस्टामेन्ट) में ५६ ग्रन्थ हैं। पूर्वार्द्ध का सबसे पुराना ग्रन्थ आमोस नबी का है। इसकी रचना सम्भवतः ८वीं शताब्दी ई०पू० में की गई। पूर्वार्द्ध का सबसे अर्वाचीन ग्रन्थ प्रज्ञा ग्रन्थ है। जिसकी रचना ५०ई० पूर्व के आसपास हुई। ओल्ड टेस्टामेन्ट के ग्रन्थ तीन वर्गों में विभाजित हैं– ऐतिहासिक प्रज्ञा ग्रन्थ, नबियों के ग्रन्थ तथा लेखकों के ग्रन्थ। लेखकों में सबसे प्रसिद्ध मूसा नबी (१३वीं सदी ई०पूर्व), दाऊद राजा (१००० ई०पूर्व के आसपास) तथा इसायस (८वीं सदी ई०पू०) है। अधिकांश ग्रन्थों की भाषा इब्रानी है, दो-तीन ग्रन्थों के मूल पाठ यूनानी भाषा में मिलते हैं।

बाइबिल उत्तरार्द्ध (न्यू टेस्टामेन्ट) का रचनाकाल ईसा मसीह की मृत्यु (७अप्रैल, ३०ई०) से लेकर पहली शताब्दी के अन्त तक का है। इसमें निम्नलिखित ग्रन्थ शामिल हैं। पहला, 'सुसमाचार' अर्थात् 'शुभ सन्देश' नामक ईसा-मसीह के चार जीवन-चरित। इनमें से पहले तीन बहुत हद तक मिलते जुलते हैं, इसलिए ये 'सहदर्शी सुसमाचार' कहलाते हैं। परम्परा के अनुसार सुसमाचार के लेखक हैं- सन्त मत्ती, सन्त मारकुस, सन्त लूकस और सन्त योहन। सन्त लूकस 'प्रेरित चरित' नामक एक दूसरी रचना के भी लेखक हैं, जिसमें उन्होंने आदि-चेलों के धर्म-प्रचार का वर्णन किया है। उसके मौलिक 'सुसमाचार' के अलावा, सन्त योहन के और तीन 'पत्र' उपलब्ध हैं। फिर उन्होंने अपने 'प्रकाशना' ग्रन्थ में प्रतीकात्मक दर्शनों का विस्तार पूर्वक उल्लेख किया है। दूसरे, आदि-चेलों के भी अनेक 'पत्र' मिलते हैं जिनमें सबसे प्रसिद्ध है संत पौलुस के पत्र। इन पत्रों में भिन्न-भिन्न आदि 'कलीसियाओ' अर्थात् धर्म-मण्डलियों के नाम दिए उपदेश के रूप में धर्म-सिद्धान्तों

---

१. विभिन्न धर्मों में ईश्वर कल्पना, पृ० ११८.

का प्रतिपादन मिलता है। न्यू टेस्टामेन्ट सम्पूर्ण रूप में बाइबिल का चौथाई मात्र है। वर्तमान रूप में उसके सम्पूर्ण ग्रन्थों की मूल भाषा यूनानी ही है।

बाइबिल-पूर्वार्द्ध का अन्तिम लेख अर्थात् संत योहन रचित सुसमाचार, पहली शताब्दी ई० के अन्त में लिखा गया। मध्यकालीन ईसाई दर्शन का युग ९वीं शताब्दी में स्कोतुस एरिऊजेना से आरम्भ होता है। यह मध्यवर्ती अवधि 'पूर्वाचार्यों का युग' कहलाती है। कालक्रम की दृष्टि से उन महात्माओं में सन्त युस्तीन (दूसरी शताब्दी) सर्वप्रथम हैं तथा दमिश्क के सन्त योहन (६७५-७४९ई०) अन्तिम हैं। पूर्वाचार्यों का युग कालक्रम के दृष्टिकोण से ५वीं शताब्दी में समाप्त हो जाता है। सन्त आगस्तिन (३५४-४३०) और छद्म-दियोनिसियुस (५०० ई० के लगभग) के पश्चात् अन्य पूर्वाचार्य दर्शन-इतिहास की दृष्टि से कम महत्व के हैं।

मध्यकालीन ईसाई धर्मशास्त्र के अन्तर्गत सर्वप्रथम नाम जॉन स्कोतुस एरिउजेना (८१०-८७० ई० लगभग) का आता है। इनकी सबसे महत्वपूर्ण रचना 'प्रकृति-वर्गीकरण' नाम से मिलती है। इनके पश्चात् सन्त अंसेल्म (१०३३-११०९) का नाम आता है। इनके अतिरिक्त सन्त बोनावेंतूरा (१२२१-१२७४), अक्वीनों के सन्त थोमस (१२२४ या १२७४), जॉन डंस स्कोतुस (१२६५-१३०८), ऑखैम (१२९०-१३४९), फ्रांसिस सुआरेस (१५४८-१६१७), का नाम उल्लेखनीय है। आधुनिक समकालीन ईसाई धर्म शास्त्र में देकार्त (१५९६-१६५०, बर्कले (१६८५-१७५३), कान्ट (१७२४-१८०४), हेगल (१७७०-१९३१), पास्कल (१६२३-१६६२), मलब्रांच (१६३८-१७१५), न्यूमैन (१८०१-१८९०), किर्केगार्द (१८१३-१८५५), ब्लोदेल (१८६१-१९४९), लाबेर्थोन्येर (१८६०-१९७३), जीलसो (१८८४-१९७८), मारेशल (१८७८-१९४४),मार्सेल (१८८९-१९७३), तैयार दि शार्दे (१८८१-१९५५) प्रमुख हैं।

२. धार्मिक ज्ञान के स्रोत : आगम और बाइबिल

शैव-सिद्धान्त धर्म के धार्मिक ज्ञान के स्रोत आगम हैं तथा ईसाई धर्म के धार्मिक ज्ञान का स्रोत बाइबिल नामक ग्रन्थ है। आगम अनेक हैं तथा अनेक प्रकार के हैं यथा- अद्वैतवादी, द्वैतवादी तथा द्वैताद्वैतवादी किन्तु बाइबिल ग्रन्थ अकेला ग्रन्थ है जो ईसाई धर्म का मूल स्रोत है। आगम और बाइबिल दोनों ही दैवी प्रकाशना के अभिलेख हैं। दोनों ही उच्चतर आध्यात्मिक अनुभूतियों के परिणाम हैं। इनके स्वरूप सम्बन्धी तुलनात्मक अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि इनके स्वरूप को पहले अच्छी तरह समझ लिया जाय।

शैव-सिद्धान्त धर्म के स्रोत शैवागम हैं। वेदों के समान शैवागमों का उद्भव भी शैव अनादिकाल से ही मानते हैं। उनका विश्वास है कि शैवागमों के उद्भव जैसी कोई तिथि नहीं है क्योंकि वे स्वयं भगवान् शिव द्वारा रचित हैं, काल-क्रम से केवल उनके लोक प्रकाशन का आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है।

शैव-सिद्धान्त के अनुसार चेतना के दो स्तर भेद किया जा सकता है। एक निम्नतर चेतना अथवा पशुज्ञान का स्तर और दूसरा उच्चतर चेतना अथवा शिवज्ञान का स्तर। पशुज्ञान के स्तर पर चेतना मल से आबद्ध रहती है अतः इस स्तर का ज्ञान सीमित अथवा अपूर्ण रहता है। शिवज्ञान का स्तर चेतना की उच्चतम अवस्था है जहाँ चेतना मल आदि बन्धन से सर्वथा मुक्त है। इस स्तर पर पूर्ण ज्ञान रहता है। आगम चेतना की उच्चतम अवस्था की अभिव्यक्ति है। अर्थात् पूर्ण ज्ञान के स्तर की अभिव्यक्ति है।

आगम अनुभव पर आधारित है। इसमें जो सिद्धान्त दिए गए हैं वे कल्पना अथवा मानसिक चिन्तन के आधार पर नहीं हैं वरन् अनुभव के आधार पर हैं। योगियों, ज्ञानियों ने सत्य का जो अनुभव प्राप्त किया है उसी से यह परम्परा चली है। इसीलिए इसे अनुभव सम्प्रदाय भी कहा जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वेद को निगम तथा तन्त्र को आगम कहा जाता है। तर्कशास्त्र की दृष्टि से 'निगम' या 'निगमन' का अर्थ है आधार वाक्य को मान लेना और मानकर उससे आगे निष्कर्ष निकालना। कहने का तात्पर्य यह है कि आगमन अथवा आगम की विशेषता अनुभव पर आधारित होने में है। यद्यपि वेद का ज्ञान अनुभवगम्य भी है परन्तु वेद

को मुख्यतया ईश्वरप्रदत्त ज्ञान माना जाता है (यस्य निःस्वसितं वेदाः), ऋषियों को केवल उस ज्ञान का द्रष्टा अथवा प्राप्तिकर्ता माना जाता है (ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः)। अतः तर्कशास्त्र की दृष्टि से वैदिक ज्ञान स्वीकृत आधार वाक्य हुआ जिसे मानकर हम आगे निष्कर्ष निकालेंगे। इसीलिए वैदिक परम्परा 'निगम' या 'निगमन' है। किन्तु तन्त्र वस्तुतः जीवन में अनुभूत व्यावहारिक ज्ञान है। योगियों ज्ञानियों ने जो अतिबौद्धिक परमज्ञान प्राप्त किया तन्त्र या आगम उसी का अभिलेख हैं। चूँकि तान्त्रिक ज्ञान अनुभव पर आधारित हैं, इसलिए वह 'आगम' या 'आगमन' कहलाते हैं।

आगम को ईश्वर का प्रकाशन माना जाता है तथा इसलिए भी आगम को प्रमाण रूप माना जाता है। आगम को ईश्वर द्वारा साक्षात् प्रकाशित होना यदि असंदिग्ध न भी माना जाय तो भी यदि आगम शिवज्ञान प्राप्त योगियों की अनुभूतियाँ अथवा प्रकाशन हैं तो उन्हें ईश्वर द्वारा ही प्रकाशित होना कहा जायेगा क्योंकि शैव-सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर ही अपनी अनुग्रह शक्ति द्वारा योगियों को शिवज्ञान प्राप्त कराता है तथा शिवज्ञान प्राप्त योगी अथवा मुक्तात्मा शिव के समान ही सर्वज्ञ होते हैं। आगम ईश्वर द्वारा दिया गया उपेदश मात्र नहीं है, वरन् अनुभूतियों पर आधारित है। यह योगियों द्वारा अनुभूत किये गये तथ्यों का संग्रह है।

आगम की प्रामाणिकता के विषय में शंकायें उठायी जाती हैं। कहा जाता है कि केवल यह कह देने से आगम प्रामाणिक नहीं हो सकता कि वह शिवज्ञान प्राप्त योगियों अथवा मुक्तात्मा के स्तर की अनुभूति है क्योंकि यह कथन भी अपनी प्रामाणिकता के लिए प्रमाण की अपेक्षा करेगा। पुनः आगम आत्मा तथा शिव के वास्तविक स्वरूप की विवेचना करता है जो इन्द्रिय ज्ञान अथवा सांसारिक ज्ञान के लिए अज्ञेय है। इसी कारण पाश्चात्य दर्शन में तर्कीय प्रत्यक्षवादियों द्वारा तत्त्वशास्त्र की आलोचना की गई है। तत्त्वशास्त्र द्वारा प्रतिपादित आत्मा तथा ईश्वर को काल्पनिक कहा गया क्योंकि इन तत्त्वों को सत्यापित नहीं किया जा सकता। भारतीय दर्शन में भी चार्वाकों ने आगम तथा वेद को प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं किया तथा अपनी आलोचना में वेदों तथा आगमों को धूर्तों की रचना बताया। इस सन्दर्भ में चार्वाकों द्वारा प्रस्तुत एक कहानी दिलचस्प है। इसके अनुसार एक समय कहीं एक धूर्त ठग था। ठगी के आरोप में दण्डस्वरूप उसकी नाक काट ली गई। नाक कट जाने पर वह ठग उस राज्य की सीमा से दूर दूसरे राज्य में चला गया। वहाँ एक स्थान पर वह समाधि की मुद्रा में बैठ गया। एक नाक कटे व्यक्ति को इस प्रकार बैठे देख बहुत से लोग कुतूहलवश वहाँ एकत्र हो गये। लोगों के पूछने पर उस ठग ने बताया कि उस मुद्रा में बैठने पर उसे अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। यह

देखने के लिए कि ऐसी स्थिति में आनन्द की अनुभूति होती है या नहीं कुछ लोगों ने अपनी नाक काटकर समाधि लगायी। किन्तु उन्हें आनन्द की अनुभूति नहीं हुई। उन लोगों द्वारा पूछे जाने पर ठग ने उनसे कहा कि वास्तव में ऐसी स्थिति में आनन्द की कोई अनुभूति नहीं होती, किन्तु चूँकि अब नाक कट गयी है अतः यह कहना ही अभीष्ट है कि हमें आनन्द की अनुभूति होती है।

आगमिक परम्परा के तत्त्वशास्त्र की पाश्चात्य दर्शन के तत्त्वशास्त्र की भाँति काल्पनिक कह कर आलोचना नहीं की जा सकती क्योंकि आगमिक तत्त्वशास्त्र अनुभूति पर आधारित है। भारतीय परम्परा के अनुसार तत्त्वशास्त्र योगियों द्वारा किये गये तत्त्व के साक्षात्कार पर आधारित है। अब प्रश्न उठता है आगमिक कथन को सत्यापित करने की अथवा दूसरे शब्दों में, आगम के वैज्ञानिक आधार की। शैव दार्शनिक यह मानते हैं कि चेतना की उच्चतम अवस्थिति अथवा शिवज्ञान प्राप्त कर आगम की प्रामाणिकता को सत्यापित किया जा सकता है अथवा इसकी प्रामाणिकता को स्वयं अनुभूत किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में चार्वाक द्वारा की गई आलोचना के प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि उच्चतर ज्ञान अथवा शिवज्ञान प्राप्त करने में नाक कटने जैसा भय नहीं है। अतः आगमिक कथन सत्यापित हो सकते हैं।

आगम की प्रामाणिकता को सत्यापित करने के लिये शिवज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। सामान्य आनुभविक ज्ञान अथवा इन्द्रिय ज्ञान सीमित है। सामान्य आनुभविक ज्ञान की सीमा अथवा अपूर्णता को शैव दार्शनिक भी मानते हैं।वे यह मानते हैं कि सत्य सामान्य आनुभविक ज्ञान द्वारा अज्ञेय है। किन्तु वे यह मानते हुए भी सत्य को सर्वथा अज्ञेय नहीं मानते। उनके अनुसार सत्य सामान्य आनुभविक ज्ञान के लिए अज्ञेय है, किन्तु उच्चतर ज्ञान के लिए अथवा शिवज्ञान के लिए ज्ञेय है। हमारे सामान्य आनुभविक ज्ञान की एक सीमा है जिसमें आने वाली वस्तुओं को ही हम जान सकते हैं। वस्तु का वास्तविक स्वरूप जो आनुभविक ज्ञान की सीमा के परे है, हम इसे नहीं जान सकते। किन्तु शिवज्ञान द्वारा जो कि पूर्ण ज्ञान का स्तर है इससे हम उसे जान सकते हैं। इसके लिए शिवज्ञान प्राप्त करना अथवा आगम की प्रामाणिकता पर विश्वास करना आवश्यक है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। मान लिया जाय कि हम नेपाल कभी नहीं गये हैं और हम नेपाल के विषय में जानकारी चाहते हैं। ऐसी स्थिति में हमें नेपाल से आये व्यक्ति की बातों पर विश्वास करना होगा। उसकी बातों की सत्यता जानने के लिए आवश्यक है कि हम नेपाल की यात्रा करें।इसी प्रकार आगम की प्रामाणिकता को जानने के

लिए आवश्यक है कि हम आगम द्वारा निर्दिष्ट साधनाओं को अपना कर शिवज्ञान प्राप्त करें।

आगम के सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठ सकता है कि यदि आगम सत्य की अनुभूति पर आधारित हैं तो ऐसा क्यों है कि अद्वैतवादी आगम अद्वैत परक ज्ञान का निर्देश करते हैं तथा द्वैतवादी आगम द्वैत परक ज्ञान का निर्देश करते हैं। दूसरे शब्दों में, आगम मतवैभिन्न्य क्यों है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यह मतवैभिन्न्य सत्य की अनुभूति के स्तर भेद के कारण है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो आगम सत्य के द्वैत स्तर तक की अनुभूति पर आधारित हैं वे उतने को ही प्रकाशित करते हैं और जो आगम सत्य के अद्वैतवादी स्तर की अनुभूति पर आधारित हैं वे अद्वैत अथवा पूर्ण ज्ञान को प्रकाशित करते हैं। इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है कि सारा दार्शनिक विवाद नाम मात्र का है। सभी दर्शन एक ही सत्य परम-सत्य अथवा परमशिव की विभिन्न अभिव्यक्तियों को व्यक्त करते हैं।

इस मत वैभिन्न्य का कारण अभिव्यक्ति के साधनों की विषमता भी कहा जा सकता है। आगम चेतना की अन्तः अनुभूति के वाह्य प्रकाशन हैं किन्तु वाह्य प्रकाशन भाषा, संस्कृति आदि से प्रभावित हो सकता है। आगम ज्ञान का वाह्य रूप जो पुस्तकाकार में प्राप्त है वह चूँकि हमारे आनुभविक ज्ञान की सीमा में है, अतः यह भी कहा जा सकता है कि वह देश-काल से प्रभावित है। किन्तु यथार्थ ज्ञान अथवा शिवज्ञान देश काल की सीमा से अप्रभावित है। कहने का तात्पर्य यह है कि उच्चतम ज्ञान की स्थिति में किसी प्रकार का मतभेद न्हीं हो सकता। यह भी कहा जा सकता है कि चूँकि हम आगमों को (अथवा आगम ज्ञान या उच्चतर ज्ञान को) आनुभविक ज्ञान या सामान्य ज्ञान द्वारा समझने का प्रयत्न करते हैं इसीलिए आगमों में मत वैभिन्न्य या विभेद प्रतीत होता है। उच्चतर ज्ञान द्वारा समझने पर आगमों में किसी प्रकार का विभेद नहीं होगा।

आगम के विषय में एक विचित्रता यह है कि आगम एक प्रकार के नहीं हैं, तीन प्रकार के दर्शन देने वाले अलग-अलग तीन प्रकार के आगम हैं। कुछ आगम भेद परक हैं, कुछ भेदाभेदपरक हैं और कुछ अभेदपरक हैं जिन्हें पारिभाषिक अर्थ में क्रमशः शिव आगम, रुद्र आगम एवं भैरव आगम कहा जाता है। इन तीन प्रकार के आगमों से वस्तुतः तत्परक तीन प्रकार के दार्शनिक सम्प्रदाय निकले हैं। भेदपरक आगम से 'शैव–सिद्वान्त', भेदाभेदपरक आगम से 'वीर शैव' दर्शन एवं अभेदपरक आगम से 'त्रिक' या 'काश्मीर शैव दर्शन' निकला है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आगम यदि सत्य का अनुभव है तो उसमें यह मतान्तर क्यों है? आगम में परस्पर विरुद्ध दीखने वाले सिद्धान्त क्यों कहे गये है? इसका उत्तर है 'अधिकारी-भेद'। 'अधिकारी-भेद' भारतीय विचार धारा का एक प्रमुख सिद्धान्त है। इसके अनुसार सभी व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से एक ही स्तर पर नहीं होते हैं। अतः सबके लिए एक ही रास्ता नहीं हो सकता और न तो सभी लोग सत्य को एक ही तरह से समझ सकते हैं। जो जिस स्तर पर है उसको वैसा ही दर्शन, वैसा ही धर्म, वैसी ही साधना चाहिए। अतः तन्त्र या आगम में अलग-अलग अधिकारियों की दृष्टि से अलग-अलग बात कही गयी है। आखिर समझने वाले के अनुसार ही तो कहने वाला कहेगा। साधना-परम्परा में ऐसा बहुत होता है कि एक ही गुरू शिष्यों के क्षमताक्रम के अनुसार अलग-अलग उपदेश देता है। हमें बच्चे और सयाने दोनों को एक ही बात बतानी हो फिर भी हम उसी बात को उन दोनों के लिए दो तरह से कहेंगे।

यहाँ एक और प्रश्न है। यह तो ठीक है कि आगम ने तीन तरह के अधिकारियों के लिए तीन तरह (भेद-भेदाभेद एवं अभेद) के दर्शन दिये हैं; किन्तु इन तीनों को बराबर स्तर का समझना चाहिए, किसी एक को सबसे ऊपर का अथवा अधिक सत्य क्यों माना जाय? काश्मीर शैव दार्शनिक अभेद-आगमों (भैरव-आगमों) को आगमों में सर्वोपरि रखते हैं तथा अभेद दर्शन को भेद दर्शन की तुलना में उत्तम बताते हैं। ऐसा क्यों है? इस सन्दर्भ में तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ का कहना है कि अभेद-दर्शन सभी दर्शनों में अनुस्यूत है, इसलिए श्रेष्ठ है। तात्पर्य यह है कि अभेद–दर्शन भेद को भी अपने में समाहित (क्रोडी कृत्य) किए है, भेद का जो उचित स्थान है वह उसे अभेद-दर्शन में मिला हुआ है। अभेद (अद्वैत) दर्शन यह मानता है कि भेद (द्वैत) रूप जगत् अभेद रूप अद्वय शिव का ही स्वातन्त्र्य-स्फुरण है। अतः भेद (द्वैत) अभेद (अद्वैत) में समाहित है, किन्तु भेद में अभेद समाहित नहीं हो सकता, क्योंकि अभेद को भेद का स्फुरण नहीं कहा जा सकता। तात्पर्य यह है कि अभेद-दर्शन भेद की तुलना में अधिक व्यापक है (भेद व्याप्य है और अभेद व्यापक है), अतः वह भेद-दर्शन की अपेक्षा अधिक सत्य है। यही कारण है कि भेद-दर्शन तो अभेद का विरोध करता है, किन्तु अभेद-दर्शन भेद का विरोध नहीं करता।

शैव-सिद्धान्त धर्म में आगम को सर्वोच्च प्रमाण माना गया है। आगम शिव के प्रकाशन हैं, इस लिए प्रामाणिक हैं। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि शिव निर्गुण तथा निराकार है, शिव को कोई रूप आरोपित नहीं किया जा सकता; ऐसी स्थिति

में आगमों की रचना किस प्रकार सम्भव है? शैव-सिद्धान्ती मानते हैं कि शिव जीवन्मुक्तों के माध्यम से आगमों का प्रकाशन करता है। जीवन्मुक्त की चित् शक्ति भक्तों के प्रभाव से मुक्त होने के कारण शुद्ध होती है। शिव उन्हें अनुग्रह द्वारा शिवज्ञान कराता है। इस प्रकार आगम जीवन्मुक्तों की अनुभूतियाँ हैं। यह स्वयं अनुभूत किये गये विषयों का प्रतिपादन करते हैं। अतः अनुभूतियों पर आधारित होने के कारण आगम प्रामाणिक हैं। अनुभूतियों पर आधारित होने से आगम को काल्पनिक विषयों का प्रतिपादक नहीं कहा जा सकता। किन्तु आगम को अनुभूतियों पर आधारित कह देने मात्र से आगम की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती क्योंकि यह कथन भी अपनी प्रामाणिकता के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा करेगा। इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि स्वयं शिवज्ञान प्राप्त कर आगमिक कथन की परीक्षा की जा सकती है। शिवज्ञान शैव-सिद्धान्त द्वारा निर्दिष्ट साधनाओं के पश्चात् ही प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि साधक आगमिक कथनों की सत्यता को जानने का प्रयास ही क्यों करेगा अथवा साधनायें ही क्यों करेगा जब तक उसे आगमिक कथनों में विश्वास अथवा श्रद्धा न हो? कहने का तात्पर्य यह है कि शिवज्ञान प्राप्त करने के पूर्व उसमें विश्वास करना आवश्यक है। किन्तु आगमिक कथनों की सत्यता का ज्ञान यदि शिवज्ञान प्राप्ति के पश्चात् ही हो सकता है अर्थात् सामान्य ज्ञान के स्तर पर नहीं हो सकता, तो उनमें विश्वास किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है? यह विश्वास उत्पन्न करने के लिए शैव-सिद्धान्त में आगम प्रमाण के बावजूद तर्क का प्रतिपादन किया गया है। सामान्य ज्ञान के स्तर पर आगमों की प्रामाणिकता तर्कों द्वारा जानी जा सकती है। यदि आगमिक कथनों की सत्यता तर्क द्वारा भी प्रमाणित होती है तो आगम प्रामाणिक हैं। अथवा दूसरे शब्दों में, आगमों की प्रामाणिकता में विश्वास किया जा सकता है। तथा शैव-सिद्धान्त द्वारा निर्दिष्ट साधनाओं को सम्पादित कर शिवज्ञान प्राप्ति द्वारा आगम की प्रामाणिकता को स्वयं अनुभूत भी किया जा सकता है।

भारतीय परम्परा में मीमांसक वेद की प्रामाणिकता को मानते हैं किन्तु आगम की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार वेद अपौरुषेय हैं अर्थात् वेद का कोई प्रकाशक या कोई रचनाकार नहीं है। वेद का प्रकाशक कोई न होने के कारण वेद नित्य हैं तथा इसीलिए प्रामाणिक हैं। आगम का चूँकि कोई प्रकाशक अथवा रचनाकार है, इसलिए आगम अप्रामाणिक है। शैव-सिद्धान्ती आगमों की प्रामाणिकता प्रतिपादित करते हुए वेद को भी प्रामाणिक मानते हैं। वेद को वे नित्य मानते हैं किन्तु मीमांसकों के अर्थ में वेद को नित्य

नहीं मानते। मीमांसकों के अनुसार वेद नित्य हैं क्योंकि शब्द नित्य है। शैव–सिद्धान्ती शब्द को नित्य नहीं मानते। उनके अनुसार शब्द की अनित्यता प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध है। आज जो कोई शब्द उच्चरित होता है वह दूसरे ही क्षणों में नष्ट हो जाता है अर्थात् कल उसका अस्तित्व नहीं रह सकता। अतः शब्दों की नित्यता नहीं मानी जा सकती तथा इस अर्थ में वेद नित्य नहीं हैं। शैव–सिद्धान्ती कहते हैं कि वेद नित्य इसलिए कहे जाते हैं क्योंकि वे शिव के प्रकाशन हैं। शिव नित्य सत्ता है इसलिए शिव के प्रकाशन होने के कारण लाक्षणिक अर्थ में वेद को नित्य कहा जाता है। शैव–सिद्धान्ती वेद और आगम में कोई विरोध नहीं मानते। उनके अनुसार दोनों ही ईश्वर के प्रकाशन हैं। वेद सामान्य हैं तथा आगम विशेष हैं। वेद सामान्य स्तर के लोगों के लिए प्रकाशित किये गए हैं तथा आगम विशेष लोगों के लिए अथवा उनके लिए प्रकाशित किये गए हैं जो शिवज्ञान प्राप्त करने के लिए उपयुक्त हैं।

आगमिक परम्परा के दर्शन आगम में कही गई बातों का ही विश्लेषण करते हैं। शैव–सिद्धान्त की दार्शनिक पद्धति की यह विशेषता है कि यहाँ आगम को ही यथार्थ प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हुए भी तर्क को समान महत्त्व प्रदान किया गया है। सामान्यतः यह माना जाता है कि सत्य को अथवा परम तत्त्व या शिव और आत्मा के वास्तविक स्वरूप को सामान्य आनुभविक ज्ञान द्वारा नहीं जाना जा सकता। अतः इनके स्वरूप सम्बन्धी कथन में तर्क महत्वपूर्ण नहीं है। पाश्चात्य दर्शन जगत् में भी सामान्य आनुभविक ज्ञान की सीमा को स्वीकार करते हुए काण्ट और ह्यूम ने सत्य को अथवा आत्मा के वास्तविक स्वरूप को अज्ञेय कहा है। आगमिक परम्परा के भारतीय दर्शन सामान्य आनुभविक ज्ञान की सीमा को स्वीकार करते हुए भी उच्चतर ज्ञान की सम्भावना को मानते हैं। उनके अनुसार सत्य साधारण ज्ञान के लिए अज्ञेय है, किन्तु उच्चतर ज्ञान द्वारा सत्य की अनुभूति की जा सकती है। फलतः उच्चतर ज्ञान के आधार पर ही सत्य की विवेचना की गई है। उच्चतर ज्ञान की ही अनुभूतियाँ आगम हैं। अतः सत्य के ज्ञान के लिए आगम को ही प्रमाण स्वरूप माना गया है।

काश्मीर शैव दर्शन में शिव तथा आत्मा की स्वरूप सम्बन्धी विवेचना आगम प्रमाण के ही आधार पर की गई, तर्क को सत्य के कथन के लिए उपयोगी नहीं माना गया है। फलतः शिव और आत्मा के अस्तित्व सिद्धि के लिए काश्मीर शैव दार्शनिक तर्कों का प्रयोग नहीं करते हैं, उनके अनुसार तर्क द्वारा अथवा बुद्धि द्वारा सत्य के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझा जा सकता है। शैव–सिद्धान्त भी काश्मीर

शैव दर्शन की इस मान्यता से सहमत है। उसके अनुसार भी बुद्धि चूँकि मायोत्पादित है, अतः उसकी सीमा माया के तत्त्वों तक ही है। माया के तत्त्वों से परे की सत्ता बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं है। अतः सत्य को जानने के लिए बुद्धि का उपयोग सीमित है। अतः सत्य की अनुभूति उच्चतर ज्ञान द्वारा अथवा आगम प्रमाण द्वारा ही हो सकती है।

सत्य उच्चतर ज्ञान की अनुभूति का विषय है जो आध्यात्मिक साधनाओं द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। अतः आनुभविक ज्ञान द्वारा अथवा सामान्य ज्ञान द्वारा अथवा सामान्य ज्ञान के स्तर पर सत्य अज्ञेय है। सत्य के ज्ञान के लिए उच्चतर ज्ञान प्राप्त किया जाना आवश्यक है। किन्तु उच्चतर ज्ञान प्राप्त करने के लिए अथवा आध्यात्मिक साधनाओं को करने के लिए उनमें विश्वास अथवा श्रद्धा आवश्यक है। यदि आगम में विश्वास अथवा श्रद्धा नहीं है तो आगमों का अनुसरण भी नहीं किया जा सकता। अतः आगमों में विश्वास पैदा करने के लिए बुद्धि को सन्तुष्ट करना भी आवश्यक है, क्योंकि बिना सन्तुष्ट हुए विश्वास करने का प्रश्न ही नहीं उठता। शैव-सिद्धान्ती बुद्धि को सन्तुष्ट करने की इस आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। फलतः बुद्धि को भी सन्तुष्ट करने के लिए शैव-सिद्धान्त में आगम-प्रमाण के बावजूद तर्क को समान रूप से महत्वपूर्ण समझा गया है। उनके अनुसार यदि आगमिक कथन तार्किक दृष्टि से संगत नहीं हैं तो उन्हें प्रमाण स्वरूप नहीं माना जा सकता।

शैव-सिद्धान्त की दार्शनिक पद्धति ही तार्किक पद्धति है। आगमिक कथनों को तार्किक कसौटी पर रखकर उनकी प्रामाणिकता को शैव-सिद्धान्ती सिद्ध करते हैं। इसीलिए शैव-सिद्धान्ती किसी भी दार्शनिक विचार के प्रतिपादन के पूर्व अन्य दार्शनिक मतों की आलोचना करते हैं तथा तार्किक विश्लेषण करते हुए अपने मत का प्रतिपादन करते हैं। इस पद्धति द्वारा शैव-सिद्धान्ती यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि उनका दर्शन तर्क की दृष्टि से भी संगत एवं ग्राह्य है। इस तार्किक विश्लेषण की प्रक्रिया में शैव-सिद्धान्ती इतने उत्साहित हो जाते हैं कि वे अपने दर्शन को 'सिद्धान्त' अथवा सभी 'सिद्धान्तों का अन्त' तक कह देते हैं। उनके अनुसार उनका ही दर्शन अन्तिम दर्शन अथवा सर्वोच्च दर्शन है। सभी दार्शनिक मतों के विश्लेषण के पश्चात् स्थापित उनके दार्शनिक सिद्धान्त के बाद अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों की सम्भावना ही नहीं रह जाती। यह बात भले ही अतिशयोक्तिपूर्ण मानी जायेगी, किन्तु शैवसिद्धान्त की यह दार्शनिक पद्धति महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार आगमिक कथनों की प्रामाणिकता सामान्य आनुभविक ज्ञान के स्तर पर भी समझी जा सकती है।

ईसाइयों का धर्म–ग्रन्थ बाइबिल है। बाइबिल भी उच्चतर ज्ञान की अनुभूतियों का प्रकाशन है। ईसाई इसे दैवी प्रकाशना कहते हैं। इसके अनुसार ईश्वर समय–समय पर यहूदी नबियों, सन्तों तथा ईसा मसीह के समक्ष स्वयं प्रकट होकर अथवा देवदूतों के माध्यम से उच्चतर ज्ञान प्रकाशित करता रहा। इन अनुभूतियों में प्राप्त ज्ञान का संग्रह ही बाइबिल नामक ग्रन्थ है जो ईसाइयों का प्रेरणा स्रोत बना हुआ है। ईसाई शब्दावली में 'प्रकाशना' शब्द का अर्थ है 'परमेश्वर की ओर से मानव को रहस्य का प्रकटीकरण।' बाइबिल के दृष्टिकोण में परमेश्वर का प्रकटन सृष्टि में इतना स्पष्ट नहीं है जितना इतिहास की घटनाओं में। इन अर्थपूर्ण घटनाओं की व्याख्या करने वाले लेखक 'नबी' कहलाते हैं। उन्हें परमेश्वर के साक्षात् दर्शन मिले। यहूदी परम्परा के अनुसार मूसा को सिनाई पर्वत पर ईश्वर का साक्षात् दर्शन प्राप्त हुआ था। नबियों को परमेश्वर की वाणी अथवा शब्द साफ–साफ सुनाई पड़ता था। यहूदी धर्म मुख्यतः इस प्रकार के प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित है।

ओल्ड टेस्टामेन्ट में दिव्य प्रकाशना की अनेक घटनाओं का वर्णन है। यहूदी यह मानते हैं कि ईश्वर इतिहास की घटनाओं में हस्तक्षेप करता है तथा इसके द्वारा ज्ञानोपदेश देता है। विभिन्न ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या यहूदी इसी अर्थ में करते हैं। इनमें से प्रमुख हैं मिश्र की गुलामी से स्वतन्त्रता की प्राप्ति (१२५० ई०पू०) और बेबीलोनिया में निर्वासन (६वी शती ई०पू०)। इन घटनाओं में नबियों के माध्यम से ईश्वर के हस्तक्षेप की व्याख्या की जाती है तथा इन घटनाओं को धार्मिक महत्व का विषय माना जाता है। इसके अनुसार परमेश्वर इतिहास में हस्तक्षेप कर अपनी योजना पूरी करता है। यहाँ परमेश्वर की योजना से जो तात्पर्य निकाला जाता है वह यह है कि परमेश्वर मानव जाति की मुक्ति अथवा मानव की परमेश्वर से एकता स्थापित करने के लिए हस्तक्षेप करता है।यहूदी तथा ईसाई विभिन्न ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या धार्मिक दृष्टिकोण से करते हैं।

ईसाई प्रकाशना को अनुभव के अर्थ में लेते हैं। वे प्रकाशित ज्ञान को साक्षात् अनुभव किया जाना मानते हैं। उनके अनुसार यथार्थ परिस्थितयों के सन्दर्भ में उत्पन्न होकर प्रकाशना अनुभव पर ही निर्भर है। उनके अनुसार मूसा से अपना 'नाम' प्रकट करने में यावे (ईश्वर) ने अपना सारतत्त्व भी प्रकाशित किया था। प्रकाशना भावना मात्र का प्रतिफल नहीं है। नबियों के वचन में इन अनुभवों की व्याख्यायें मिलती हैं। यहूदी एवं ईसाई परम्परा में प्रकाशना का व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों ही प्रकार का महत्व है। परमेश्वर की ओर से नबी को जो सन्देश मिलता है, वह जनता के लिए भी है।

ईसाई मान्यता के अनुसार प्रकाशना के फलस्वरूप मानव में 'ज्ञान' उत्पन्न होता है। इस ज्ञान का अभिप्राय है- घनिष्ठ सम्बन्ध से पैदा हुआ परमेश्वर से परिचय। यह ज्ञान सैद्धान्तिक नहीं अनुभवात्मक है। यह ज्ञान आभ्यन्तर मूलक है। इस आन्तरिक ज्ञान का एक अच्छा उदाहरण येरेमियस के 'नया व्यवस्थापन' सम्बन्धी प्रकरण में मिलता है। यहाँ सम्बन्ध से तात्पर्य ईश्वर और उसकी प्रजा का पारस्परिक सम्बन्ध है। वही घनिष्ठ परिचय 'ज्ञान' का स्वाभाविक आधार है। परमेश्वर का कहना है कि 'मैं अपना नियम उसके अभ्यन्तर में रख दूँगा, मैं उसे उनके दृश्य पर अंकित करूंगा।' स्पष्टतः ईश्वर सम्बन्धी यह ज्ञान आन्तरिक ही है। यह ज्ञान शिक्षा के बिना भी उत्पन्न हो सकता है। इसकी जरूरत नहीं रहेगी कि वे एक दूसरे को शिक्षा दें और अपने भाइयों से कहें: प्रभु का ज्ञान प्राप्त कीजिए, क्योंकि छोटे और बड़े, सबके सब मुझे जानेंगे।[१]

तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो शैव–सिद्धान्त और ईसाई धर्म के आधार स्रोत स्वरूप की दृष्टि से समान आधार वाले हैं। आगम और बाइबिल दोनों ही उच्चतर अनुभूति पर आधारित हैं। शैव–सिद्धान्त के अनुसार उच्चतर आध्यात्मिक अवस्था प्राप्त करने के पश्चात् ही उच्चतर अनुभूति प्राप्त की जा सकती है जो साधना के द्वारा, ईश्वर के अनुग्रह द्वारा अथवा शिवरूप गुरू की कृपा से प्राप्त किया जा सकता है। ईसाई धर्म के अनुसार दिव्य अनुभूति पवित्र आत्माओं को हो सकती है जो पश्चात्ताप, प्रार्थना आदि के द्वारा पवित्रता प्राप्त करते हैं। इस प्रकार इस बात पर दोनों ही धर्म सहमत हैं कि धर्म सामान्य ज्ञान पर अथवा सामान्य अनुभूति पर आधारित नहीं है। धर्म का आधार दिव्य अनुभव है। धर्म उच्चतर अनुभव पर आधारित है। उच्चतर अनुभव ईश्वर के द्वारा प्राप्त कराया जाता है। इस प्रकार धर्म ईश्वर का ही प्रतिपादन है। ईश्वर की ही इच्छा अथवा ईश्वर का ही उपदेश धार्मिक ग्रन्थों के रूप में अभिव्यक्त है।

दोनों धर्मों में धार्मिक ज्ञान के स्रोत के अनुसरण के सम्बन्ध में एक बात को लेकर अन्तर देखा जा सकता है। शैव–सिद्धान्त जहाँ आगम में विश्वास करने के लिये आस्था के साथ–साथ अनुभव करने पर आग्रह करता है वहाँ ईसाई धर्म में विश्वास अथवा आस्था पर विशेष आग्रह किया जाता है। ईश्वरीय होने अथवा दिव्य अनुभूति पर आधारित होने से आगम में विश्वास अथवा आस्था ही एकमात्र कारण है आगम की प्रामाणिकता का किन्तु शैव–सिद्धान्त इस बात पर आग्रह करता है कि उच्चतर अनुभूति प्राप्त कर के कोई भी व्यक्ति आगम की प्रामाणिकता को

---

१. येरेमियस ३१.३३-३४.

सत्यापित कर सकता है। आगम–परम्परा वस्तुतः अनुभव–परम्परा अथवा अनुभव सम्प्रदाय है। ईसाई धर्म में ईसा मसीह को ईश्वर पुत्र कहा गया है। ईसा मसीह के उपदेशों पर विश्वास तथा आस्था करने की बात वहाँ कही गई है। केवल ईसा मसीह ही ईश्वर द्वारा ईश्वरीय ज्ञान का उपदेश करने के लिये अधिकृत अथवा निर्दिष्ट किये गये हैं। यह अधिकार मूल रूप से और किसी को प्राप्त नहीं है। शैव–सिद्धान्त की मान्यताओं के अनुसार ईश्वर ने किसी को विशेषाधिकार प्रदान नहीं किया है। सभी आत्मायें समान हैं। मूल स्वरूप में सभी ईश्वर के समान ही सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापी हैं। ईश्वर सब पर समान रूप से अनुग्रह करता है। अपने व्यक्तिगत श्रम, साधना आदि के द्वारा कोई भी आध्यात्मिकता की ऊँची अवस्था को प्राप्त कर सकता है तथा कोई भी उच्चतर अनुभूति अथवा उच्चतर ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

आगम तथा बाइबिल के स्वरूप के विषय में एक अन्तर यह देखा जा सकता है कि आगम अपरोक्षानुभूति (Immediate revelation) पर आधारित हैं तथा बाइबिल परोक्षानुभूति (Mediate revelation) पर आधारित है। आगम योगियों, साधकों के द्वारा साक्षात् रूप से सीधे अनुभूत किये गये ज्ञान पर आधारित है। शैव परम्परा के अनुसार ईश्वर स्वयं साधकों को ज्ञान प्रदान करता है। ज्ञान के प्रकाशन के लिए ईश्वर किसी भी रूप में प्रकट होकर साधक को ज्ञान प्रदान करता है। वह गुरू रूप में शरीर धारण करके ज्ञान प्रदान करता है। अथवा किसी भी अन्य तरीके से ज्ञान प्रदान करता है। उच्चतर अनुभूति की अवस्था में ईश्वर और साधक के बीच कोई तीसरा नहीं होता। साधक ईश्वर को तथा ईश्वरीय ज्ञान को सीधे (Direct) प्राप्त करता है। ईसाई धर्म की परम्परा में दैवी अनुभूति अथवा दैवी प्रकाशना के लिए देवदूतों की कल्पना की गई है। ऐसी मान्यता है कि देवदूतों के माध्यम से ईश्वरीय उपदेश पैगम्बरों, नबियों तथा मसीहा को प्राप्त होते रहे हैं। इस प्रकार बाइबिल परोक्षानुभूति अथवा माध्यम के द्वारा प्राप्त ज्ञान पर आधारित है। यह अपरोक्ष (Direct) न होकर परोक्ष (Indirect) ज्ञान अथवा अनुभूति पर आधारित है।

आगम और बाइबिल दोनों ही ईश्वरीय ज्ञान पर आधारित हैं। दोनों के ज्ञान का मूल स्रोत ईश्वर है। इसलिये दोनों की प्रामाणिकता में कोई अन्तर इस बात को लेकर नहीं देखा जा सकता कि वे अपरोक्ष ज्ञान पर आधारित हैं अथवा परोक्ष ज्ञान पर। यहाँ एक उल्लेखनीय बात अवश्य है कि शैव–सिद्धान्त के अनुसार ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त साधक पूर्ण तथा ईश्वर के समतुल्य माना जाता है। ईसाई धर्म के अनुसार पैगम्बर अथवा मसीहा ईश्वर का प्रिय अवश्य होता है किन्तु वह ईश्वर के समतुल्य नहीं माना जाता।

३. ईश्वर की सत्ता

शैव–सिद्धान्त और ईसाई धर्म दोनों ही ईश्वरवादी धर्म हैं। दोनों धर्मों में ईश्वर की सत्ता मानी गई है तथा ईश्वर को सर्वोच्च सत्ता कहा गया है। प्रश्न उठता है कि ईश्वर की सत्ता के ज्ञान का स्रोत अथवा आधार क्या है? दोनों ही धर्मों में यह बात मानी गई है कि ईश्वर सामान्य आनुभविक ज्ञान का विषय नहीं है। ईश्वर ही स्वयं को प्रकाशित करता है। इस तरह यह बात स्पष्ट है कि दोनों ही धर्मों के अनुसार ईश्वर की सता का ज्ञान उच्चतर ज्ञान अथवा उच्चतर अनुभूति अथवा दैवी प्रकाशना में प्राप्त ज्ञान पर आधारित है। इस प्रकार शैव–सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर की सत्ता का ज्ञान आगम के द्वारा प्राप्त होता है तथा ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर की सत्ता का ज्ञान बाइबिल के द्वारा प्राप्त होता है। किन्तु दोनों ही धर्मों के दार्शनिकों ने ईश्वर की सत्ता के पक्ष में तर्कों का भी प्रतिपादन किया है। दोनों धर्मों के दर्शनिकों द्वारा तर्कों के प्रस्तुतीकरण में बहुत कुछ साम्य देखने को मिलता है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में यह माना गया है कि हमारा आनुभविक ज्ञान सीमित है। आनुभविक ज्ञान अथवा इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा परम सत्य का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। किन्तु भारतीय दर्शनिक इस सीमा के परे उच्चतर ज्ञान प्राप्त करने तथा उसके द्वारा परम सत्य का साक्षात्कार करने की सम्भावना को मानते हैं। भारतीय परम्परा में, विशेषकर आगमिक परम्परा में, उच्चतर ज्ञान द्वारा ही परम सत्य के विषय की विवेचना की गई है। शैव–सिद्धान्ती शिव के विषय में आनुभविक ज्ञान की सीमा को मानते हुए कहते हैं कि शिव इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता क्योंकि शिव आध्यात्मिक सत्ता हैं। शिव का कोई रूप अथवा आकार नहीं है। जिससे वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय बन सके। शिव का अस्तित्व अनुमान द्वारा जाना जा सकता है, अथवा तर्कों द्वारा शिव का अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता हैं। किन्तु तर्कों द्वारा केवल इतना ही जाना जा सकता है कि शिव का अस्तित्व है। शिव के स्वरूप का ज्ञान नहीं किया जा सकता अथवा शिव के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। शिव का स्वरूप तो उच्चतर ज्ञान द्वारा ही जाना जा सकता हैं। दूसरे शब्दों में, सत्य की अनुभूति अथवा सत्य का साक्षात्कार शिव–ज्ञान प्राप्त करके ही हो सकता है। ऐसी स्थिति में शिव के विषय में जो कुछ भी ज्ञात हो सकता है, वह आगमों के माध्यम से ही ज्ञात हो सकता है। आगम चूँकि उच्चतर ज्ञान

अथवा शिव–ज्ञान प्राप्त योगियों की अनुभूतियाँ हैं, इसलिए प्रामाणिक अथवा विश्वसनीय हैं। इसके बावजूद शैव–सिद्धान्त के दार्शनिकों ने ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए तर्कों का भी प्रयोग किया। उनके अनुसार आगमिक कथनों में विश्वास उत्पन्न करने के लिए तर्कों का प्रयोग करना आवश्यक है। आगमिक कथन यदि तर्क द्वारा भी समर्थित होते हों, तो उनकी विश्वसनीयता अथवा प्रामाणिकता असंदिग्ध मानी जा सकती है।

ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए शैव–सिद्धान्ती दार्शनिक जो तर्क देते हैं उन्हें सृष्टिमूलक तर्क, प्रयोजन मूलक तर्क तथा नैतिकतामूलक तर्क कहा जाता है। सृष्टिमूलक तर्क के अनुसार 'जगत् पुलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुन्सकलिङ्ग से द्योतित होने वाले पदार्थों से निर्मित होने के कारण सृष्टि, स्थिति तथा संहार का विषय है। अतः जगत् को अस्तित्व में लाने वाला अथवा कोई सृष्टिकर्ता होना चाहिए। यह ईश्वर है।' इस तर्क द्वारा शैव–सिद्धान्ती सर्वप्रथम यह सिद्ध करते हैं कि जगत् कार्य रूप है। जगत् कार्य–रूप है क्योंकि यह सावयव है अथवा पदार्थ समूहों से युक्त है। जगत् परिवर्तनों का विषय है अथवा सृष्टि, स्थिति तथा संहार का विषय है क्योंकि जिन पदार्थ समूहों से जगत् युक्त है वे सृष्टि, स्थिति तथा संहार के विषय हैं, दूसरे शब्दों में, संसार की प्रत्येक वस्तु जन्म लेती है और विनष्ट होती है। यदि जगत् की वस्तुएँ उत्पत्ति–विनाशशील हैं; तो इससे यह ध्वनित होता है कि जगत् भी उत्पत्ति–विनाशशील है। इस प्रकार कार्य रूप होने से जगत् ऐसे कारण की ओर संकेत करता है जो इन परिवर्तनों को करने में सक्षम हो। चूँकि प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य होता है, जैसे घट कार्य है तो उसका कारण कुम्भकार है, इसलिए यदि जगत् कार्य रूप है तो उसका कारण भी अवश्य होना चाहिए। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि घट भाग है तथा जगत् सम्पूर्ण है, फिर क्या भाग (घट) के आधार पर सम्पूर्ण (जगत्) के कर्ता का अनुमान किया जा सकता है? क्या यहाँ यह तार्किक दोष नहीं होगा कि जो बात भाग के विषय में सत्य है वही बात सम्पूर्ण के विषय में भी मान ली जा रही है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यदि घट के सादृश्य के आधार पर जगत् के कर्ता के रूप में कुम्भकार जैसे ससीम कारण का अनुमान किया जाय तो यहाँ तार्किक दोष होगा क्योंकि जगत् घट जैसा लघु कार्य नहीं है अपितु एक विशाल और अद्भुत रचना है, किन्तु जगत् का कारण असीम ईश्वर को मानने में यह दोष नहीं होगा।

शैव–सिद्धान्त दार्शनिक अपनी तार्किक प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि जगत् अपनी परिवर्तनशीलता द्वारा शक्ति का संकेत करता है। बिना शक्ति

के सृष्टि स्थिति तथा संहार जैसी प्रक्रिया सम्भव नहीं है। अतः जगत् कारण रूप शक्तिमान् का संकेत करता है। अथवा दूसरे शब्दों में, जगत् की परिवर्तनशीलता में प्रयुक्त शक्ति का धारक रूप शक्तिमान् आवश्यक है। यह शक्तिमान् जड़ पदार्थ अथवा माया नहीं हो सकती क्योंकि अचेतन में शक्ति आरोपित नहीं की जा सकती। आत्मा चेतन है, किन्तु अनादि आणव से ग्रस्त होने के कारण उसकी शक्तियाँ सीमित हैं, अतः जगत् का कारण-रूप शक्तिमान् आत्मा नहीं हो सकता। इस प्रकार के शक्तिमान् का वर्णन श्रुतियों में ईश्वर के रूप में किया गया है। अतः जगत् का कारण ईश्वर है, अथवा दूसरे शब्दों में, इस प्रकार ईश्वर की सत्ता सिद्ध है।

जगत् को कार्य रूप मान कर कारण-रूप ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने में शैव-सिद्धान्ती जगत् की सृष्टि और प्रलय मानते हैं। भारतीय परम्परा में कुछ ऐसे दर्शन हैं जो जगत् की सृष्टि अथवा प्रलय को नहीं मानते। चार्वाक और पूर्वमीमांसा दर्शनों में जगत् की सृष्टि और प्रलय होना नहीं माना गया है। अतः चार्वाक और पूर्वमीमांसा द्वारा जगत् की सृष्टि और प्रलय को न मानने के कारणों अथवा उनके द्वारा प्रस्तुत आक्षेपों का शैव-सिद्धान्त की दृष्टि से समाधान आवश्यक है।

चार्वाक दर्शन प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान को प्रमाण नहीं मानता। अतः अनुमान द्वारा ज्ञात होने वाले विषय में चार्वाक विश्वास नहीं करता। चार्वाक के अनुसार चूँकि जगत् की सृष्टि अथवा प्रलय प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं है अतः अमान्य है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जगत् की सृष्टि अथवा प्रलय को न मानने में चार्वाक भी वस्तुतः अनुमान का ही प्रयोग करता है। यदि चार्वाक जगत् की सृष्टि अथवा प्रलय का प्रत्यक्ष नहीं करता तो वह जगत् की सृष्टि अथवा प्रलय के होने न होने दोनों के विषय में कुछ नहीं कह सकता। चार्वाक यह कैसे जानता है कि जगत् की सृष्टि अथवा प्रलय नहीं होता, यदि वह अनुमान का प्रयोग नहीं करता? जगत् की सृष्टि या प्रलय न होने को चार्वाक प्रत्यक्ष द्वारा नहीं जान सकता क्योंकि यह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अनुमान का प्रयोग चार्वाक नहीं कर सकता क्योंकि अनुमान को वह नहीं मानता।

मीमांसक जगत् की सृष्टि अथवा प्रलय नहीं मानते। उनके अनुसार सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि अथवा प्रलय नहीं देखा जाता। जगत् का आंशिक प्रलय ही देखा जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जगत् के भागों अथवा जागतिक पदार्थों की सृष्टि और प्रलय के आधार पर सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि अथवा प्रलय नहीं माना जा सकता। इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कहेंगे कि यद्यपि सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि अथवा प्रलय नहीं देखा जाता किन्तु आंशिक प्रलय के आधार पर सम्पूर्ण जगत्

का प्रलय माना जा सकता है। हम सभी व्यक्तियों को मरते नहीं देखते हैं (कम से कम भविष्य की बात नहीं कर सकते) किन्तु यह सार्वभौमिक सत्य के रूप में स्वीकार किया जाता है कि सभी मनुष्य मरणशील हैं। हम मनुष्य के मनुष्यत्व विशेष के आधार पर अथवा सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष के आधार पर यह जानते हैं कि चूंकि मनुष्यत्व धर्म मरणशीलता का द्योतक है, अतः सभी मनुष्यों में यह सामान्य धर्म होने से सभी मनुष्य मरणशील हैं। इसी आधार पर तर्क किया जा सकता है कि चूँकि सभी पदार्थ, जिनसे जगत् निर्मित है अथवा जगत् जिनका समूहपुंज है, उनमें सृष्टि, स्थिति तथा संहार ये सामान्य धर्म हैं, अतः जगत् का भी ये सामान्य धर्म हुए। इस प्रकार इस आधार पर जगत् की सृष्टि अथवा प्रलय माना जा सकता है।

जगत् की सृष्टि अथवा प्रलय मान लेने पर यह प्रश्न उठता है कि इसके कारण रूप में ईश्वर को क्यों माना जाय? स्वभाववादी चार्वाक जगत् के परिवर्तनों के मूल में ईश्वर को आवश्यक नहीं मानते। न्याय-वैशेषिक ईश्वर को मानते हैं किन्तु उनके अनुसार ईश्वर निमित्त मात्र है। परमाणु और अदृष्ट ही सृष्टि के मूल कारण हैं। सांख्य दर्शन बिना ईश्वर के ही प्रकृति के परिणामस्वरूप जगत् की सृष्टि की व्याख्या करता है।

शैव-सिद्धान्ती जगत् के स्रष्टा रूप ईश्वर की मान्यता पर बल देते हुए चार्वाक, न्याय-वैशेषिक, सांख्य आदि के आक्षेपों का उत्तर देते हैं। चार्वाक के अनुसार पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि के तत्त्वों द्वारा ही सारा परिवर्तन स्वयमेव हो जाता है। इन परिवर्तनों को कराने के लिए ईश्वर की मान्यता अनावश्यक है। किन्तु शैव-सिद्धान्त के अनुसार परिवर्तन तत्त्वों द्वारा स्वभावतः मानने पर सृष्टि में व्याप्त विभिन्नता तथा इसके बावजूद सृष्टि में जो तारतम्य देखा जाता है, उसकी व्याख्या बिना चेतन कर्त्ता रूप ईश्वर को माने नहीं की जा सकती। यह देखा जाता है कि कहीं जल शीतल है तो कहीं गर्म, कहीं हवा चलती है तो कहीं नहीं। यदि परिर्वतन तत्त्व का स्वभाव है तो यह विभिन्नता नहीं देखी जा सकती क्योंकि तत्त्व अचेतन है। अचेतन होने के कारण उनके स्वाभाविक कार्य समान हो सकते हैं विभिन्न अथवा परिवर्तनशील नहीं। ये विभिन्नतायें चेतन कर्ता द्वारा ही संभव हो सकती हैं।

न्याय-वैशेषिक द्वारा परमाणुओं और अदृष्ट को सृष्टि का मूल कारण मानने पर शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि ईश्वर के सक्रिय हस्तक्षेप के बिना परमाणु सक्रिय नहीं हो सकते अथवा परमाणुओं का संयोग नहीं हो सकता। बिना ईश्वर के सांख्य द्वारा प्रकृति परिणाम के फलस्वरूप सृष्टि की आलोचना में शैव-सिद्धान्ती कहते

हैं कि बिना चेतन ईश्वर के हस्तक्षेप किये प्रकृति और पुरुष का संयोग नहीं हो सकता। प्रकृति अचेतन है तथा पुरुष सक्रिय एवं उदासीन है। प्रकृति पहल नहीं कर सकती क्योंकि अचेतन है। पुरुष संयोग चाहेगा ही नहीं क्योंकि वह उदासीन है। अतः इनके संयोग के लिए ईश्वर आवश्यक है।

इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि शैव-सिद्धान्ती ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने में आधार रूप जगत् की सत्यता मान लेते हैं। किन्तु जगत् की सत्यता असंदिग्ध नहीं है। अतः संदिग्ध आधार से असंदिग्ध ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि जगत् सत्य है तो इसके आधार पर अनुमानित ईश्वर भी सत्य होगा। किन्तु यदिं जगत् असत्य है तो इसके आधार पर अनुमानित ईश्वर भी असत्य होगा। अतः जगत् की सत्यता के लिए शैव-सिद्धान्त द्वारा दिये गये तर्कों की विवेचना भी इस सन्दर्भ में अपेक्षित है।

शैव-सिद्धान्त के अनुसार जगत् की सत्यता स्पष्ट प्रत्यक्ष से प्रमाणित है। किन्तु यहाँ आक्षेप हो सकता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण स्वयं असंदिग्ध नहीं है क्योंकि भ्रमजन्य ज्ञान भी प्रत्यक्ष द्वारा ही होता है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा जगत् की सत्यता भी संदिग्ध है और फिर संदिग्ध सत्यतावाले जगत् के आधार पर अनुमानित ईश्वर की सत्ता असंदिग्ध नहीं हो सकती। इस समस्या का समुचित समाधान 'शिवज्ञान सिद्धि' में किया गया है। इसके अनुसार प्रत्यक्ष की असंदिग्धता पर प्रश्न इसलिए होता है क्योंकि कभी–कभी वस्तु को हम उसके वास्तविक रूप में न देखकर कुछ अन्यथा अनुभव कर लेते हैं। प्रत्यक्ष द्वारा प्रस्तुत दो विकल्पों में से एक की जगह दूसरे को गलती से मान लिया जाता है, जैसे दूर से देखी गई किसी वस्तु के विषय में दो विकल्प उठ सकते हैं कि वस्तु कोई व्यक्ति है या स्तम्भ। यदि स्तम्भ को गलती से व्यक्ति प्रत्यक्ष कर लिया जाय अथवा व्यक्ति का गलती से स्तम्भ प्रत्यक्ष कर दिया जाय तो यह हमारा भ्रमजन्य प्रत्यक्ष होगा। किन्तु इस प्रकार का प्रत्यक्ष कभी-कभी ही होता है। हम अपने स्पष्ट प्रत्यक्ष में वस्तु का वास्तविक प्रत्यक्ष ही करते हैं। उसी प्रकार जगत् की सत्यता हमारे स्पष्ट प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध है। अतः जगत् के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध की जा सकती है।

जगत् की सत्यता के सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि शैव–सिद्धान्ती अद्वैत–वेदान्त में मान्य जगत् के ब्रह्म पर अध्यारोपित होनेकी सम्भावना को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार जिस प्रकार रस्सी का भ्रम सर्प समझ लिया जाता है, उस प्रकार ब्रह्म को जगत् नहीं समझा जा सकता है। रस्सी और सर्प में स्वरूप सम्बन्धी बहुत कुछ साम्य है। अतः रस्सी को गलती से सर्प समझा जा सकता

है किन्तु ब्रह्म और जगत् में इस प्रकार की समानता नहीं हो सकती। ब्रह्म चित्–रूप है, तथा जगत् अचेतन है। रज्जु–सर्प भ्रम में भ्रम का आधार रज्जु और सर्प के भौतिक आकार की समानता है। किन्तु ब्रह्म और जगत् में इस प्रकार के आधार का सर्वथा अभाव है। अतः शैव–सिद्धान्त के अनुसार जगत् को ब्रह्म पर अध्यारोपित मात्र मानने का कोई आधार नहीं बनता जिससे जगत् को असत्य अथवा मिथ्या माना जाय। पुनः जगत् की असत्यता के लिए कोई प्रमाण भी नहीं दिया जा सकता। यदि जगत् की असत्यता के लिए प्रयुक्त प्रमाण वैध है तो भी इससे जगत् की असत्यता को सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह प्रमाण भी अपने अस्तित्व की दृष्टि से जगत् का एक भाग होगा और यह नहीं कहा जा सकता कि जगत् का एक भाग सत्य होने पर भी सम्पूर्ण जगत् असत्य है। यदि जगत् की असत्यता के लिए प्रयुक्त प्रमाण अवैध है तो अवैध प्रमाण द्वारा जगत् की असत्यता सिद्ध नहीं की जा सकती।

ईश्वर की सत्ता सिद्धि के लिए प्रयोजनमूलक तर्क प्रस्तुत करते हुए शैव–सिद्धान्ती दार्शनिक कहते हैं कि आत्माओं को शरीर से युक्त करने के लिए ईश्वर आवश्यक है। आत्माओं को मल से, जिनसे उनका वास्तविक स्वरूप आच्छादित है, मुक्ति पाने के लिए शरीर की अपेक्षा होती है। शरीरीकरण का यह कार्य न तो जड़ पदार्थ द्वारा और न असहाय आत्मा द्वारा ही सम्पादित हो सकता है। इस कार्य को सम्पादित करने के लिए ईश्वर आवश्यक है। शैव–सिद्धान्त की मान्यताओं के अनुसार प्रलय की अवस्था के बाद पुनः सृष्टि में अवतीर्ण होकर कर्म करने के लिए आत्माओं को शरीर की अपेक्षा रहती है क्योंकि चेतना रूप आत्मा बिना उपयुक्त शरीर धारण के अपनी मुक्ति के लिए प्रयास अथवा कर्म नहीं कर सकता। वास्तविक स्वरूप पर आच्छादित मल को दूर करने के लिए मलपरिपाक की प्रक्रिया आवश्यक है जो जगत् में कर्मों द्वारा प्राप्त अनुभवों पर आश्रित है। किन्तु समस्या उत्पन्न होती है आत्मा और शरीर के संयोग की। सीमित शक्तियों से युक्त होने के कारण आत्मा स्वयं शरीर धारण नहीं कर सकता और अचेतन अथवा जड़ पदार्थ भी आत्मा को शरीर से युक्त नहीं कर सकते। अतः आत्मा का शरीरीकरण भी ईश्वर की सत्ता का एक अन्य प्रमाण है।

प्रयोजनमूलक तर्क द्वारा शैव–सिद्धान्ती यह दिखाते हैं कि सृष्टि के मूल में प्रयोजन निहित है। जगत् निष्प्रयोज्य नहीं है। शिव सृष्टि की प्रक्रिया द्वारा आत्माओं को शरीर प्रदान करता है ताकि वे मल से मुक्ति पाने के लिए प्रयास कर सकें। कहने का तात्पर्य यह कि सृष्टि करने में शिव का प्रयोजन आत्माओं की भलाई करना है।

ईश्वर की सत्ता सिद्धि के लिए नैतिकता मूलक तर्क प्रस्तुत करते हुए शैव–सिद्धान्ती कहते हैं कि आत्माओं को उनके कर्मों के उचित फल प्रदान करने के लिए ईश्वर आवश्यक है। कर्म अचेतन हैं, अतः वे स्वयं संचालित नहीं हो सकते। सीमित और अमूर्त आत्मा भी स्वयं कर्मों का उचित फल प्राप्त नहीं कर सकते। केवल ईश्वर ही कर्मों के नियम को संचालित कर सकता है।

इस तर्क की व्याख्या करते हुए शैव–सिद्धान्ती कहते हैं कि प्रलय की अवस्था में आत्मा असहाय हैं तथा कर्म अचेतन हैं। अतः अपने कर्मों के अनुसार शरीर ग्रहण करने के लिए अथवा अपने कर्मों का उचित फल प्राप्त करने के लिए आत्मा ईश्वर पर आश्रित है। शैव–सिद्धान्त द्वारा प्रस्तुत इस तर्क पर आक्षेप मुख्यतया मीमांसकों द्वारा हो सकता है जिनके अनुसार कर्मों का नियम स्वचालित है तथा इसके लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। इसके प्रत्युत्तर में शैव–सिद्धान्ती कहते हैं कि अचेतन होने से कर्म आत्माओं के सुख तथा दुःख की अनुभूतियों के जनक नहीं हो सकते। कर्मों के उचित सुख दुःख की अनुभूति प्रदान करने के लिए चेतन सत्ता की आवश्यकता अपरिहार्य है जो सर्वज्ञ हो ताकि उसे समस्त आत्माओं के अच्छे–बुरे कर्मों का ज्ञान हो। शैव–सिद्धान्त के अनुसार ऐसा चेतन, सर्वज्ञ सत्ता ईश्वर है, श्रुतियों में जिसका उल्लेख किया गया है। अतः नैतिक आधार पर भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध है।

ईसाई धर्म में दैवी प्रकाशना अथवा बाइबिल को ही ईश्वर ज्ञान का मूल स्रोत माना गया है। इसके बावजूद ईसाई दार्शनिकों ने ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने हेतु तर्कों का प्रयोग किया है। इस प्रकार के दार्शनिकों में सन्त एन्सेल्म, थामस एक्विनास, देकार्त तथा लाइबनित्ज के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें सन्त एन्सेल्म तथा थामस एक्विनास ईसाई धर्म के परिप्रेक्ष्य में ही तर्कों का प्रयोग करते हैं। देकार्त तथा लाइबनित्ज के समय में धर्म तथा दर्शन का विभेदीकरण करने की प्रवृत्ति विकसित होने लगी थी। देकार्त तथा लाइबनित्ज ने दार्शनिक दृष्टि से अपने तर्कों का प्रतिपादन किया है यद्यपि इन पर धर्म का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इस प्रकार धर्म के क्षेत्र में तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से सन्त एन्सेल्म तथा थामस एक्विनास के तर्क महत्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय हैं। सन्त एन्सेल्म ने ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए दो प्रकार के तर्क दिये। इनमें से एक उनके 'एकालाप'[१] नामक रचना में मिलता है, जिसके अनुसार, 'हम भिन्न तत्त्वों की कम या अधिक श्रेष्ठता के विषय में निर्णय किया करते हैं। इसके अनुसार शुभ या प्रज्ञा जैसी विशेषताओं

१. Monologium.

का सोपान भी स्थापित किया जा सकता है। इस सोपान में एक परम शुभ या प्रज्ञा का होना भी आवश्यक है। फिर, इस उत्तम तत्त्व का अस्तित्व इससे प्रमाणित है कि अवर विशेषताएं उसी की सहभागी होती हैं'।[१] सन्त एन्सेल्म द्वारा प्रयुक्त दूसरा तर्क 'अभिवादन'[२] नामक रचना में मिलता है। इसके अनुसार 'परमेश्वर का प्रत्यय एक ऐसे तत्त्व की धारणा है जिससे महान् और किसी तत्त्व की धारणा नहीं की जा सकती है। फिर, परमेश्वर यदि वास्तव में अस्तित्व नहीं रखता तो उससे महान् एक और तत्त्व की धारणा की जा सकती थी, अर्थात् एक ऐसे तत्त्व की जो कल्पित परमेश्वर के बिल्कुल सदृश होने के अतिरिक्त उसके विपरीत वास्तविक भी हो। वास्तव में अस्तित्व रखना तो विचार में ही उपलब्ध होने से महत्व का है। फलतः यदि उपर्युक्त परमेश्वर की धारणा सही है तो परमेश्वर का अस्तित्व भी है।[३] एन्सेल्म द्वारा प्रयुक्त इस दूसरे तर्क की बहुत आलोचना हुई। गौनीलो ने कहा कि सर्वश्रेष्ठ द्वीप की कल्पना मात्र से यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि इसका वास्तविक अस्तित्व भी है। कहने का तात्पर्य यह है कि विचार मात्र से अस्तित्व होने की बात प्रमाणित नहीं मानी जा सकती।

सन्त थामस एक्विनास ने ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए पाँच प्रकार के तर्क प्रस्तुत किये हैं। पहले तर्क के अनुसार परिवर्तन के फलस्वरूप जो तत्त्व 'अन्तः शक्ति' या सम्भावना मात्र की स्थिति में था, वही 'सिद्धि' या वास्तविकता की प्राप्ति करता है, उदाहरण के लिए जिस बीज में विकसित होने की क्षमता थी, वह पौधा बन जाता है। फिर सिद्धान्त के अनुसार अंतः शक्ति से सिद्धि की स्थिति केवल किसी दूसरे सिद्धि–प्राप्त कारण के प्रभाव से उत्पन्न हो सकती है। बीज के उदाहरण में पौधा सूर्य की ऊर्जा के प्रभाव से अंकुरित हो सकता है। यदि इस कारण का भी परिवर्तन हो तो परिवर्तन के दृष्टिकोण से वह स्वयं किसी और कारण का कार्य है। इस कारण, कार्य-क्रम में अनवस्था नहीं हो सकती है। फलतः एक ऐसे कारण तक पहुँचना अनिवार्य है, जो स्वयं किसी कारण के अधीन नहीं हो। स्वयं अकारण होकर वह तत्त्व दूसरे तत्त्वों के परिवर्तन का मूल कारण है।

सन्त थामस द्वारा प्रयुक्त दूसरे तर्क के अनुसार कोई तत्त्व अपनी उत्पत्ति का स्वयं कारण नहीं हो सकता, नहीं तो कार्य के रूप में उत्पन्न होने के पहले ही वह कारण के रूप में अस्तित्व रखता। यदि कारण की भी उत्पत्ति हुई, तो फिर एक

---

१. योहन फाइस, ईसाई दर्शन, पृ० ९१.

२. Proslogium.

३. योहन फाइस, ईसाई दर्शन, पृ० ९१.

और कारण की आवश्यकता होगी। इस अनुक्रम में भी अनवस्था नहीं हो सकती है, इसलिए फिर एक अकारण मूल कारण पर पहुँचना है जो परमेश्वर ही है। तीसरे तर्क के अनुसार भौतिक तत्त्व आवश्यक रूप से अस्तित्व नहीं रखते हैं, बल्कि सापेक्ष मात्र हैं। इसलिए जो तत्त्व अस्तित्व के दृष्टिकोण से सापेक्ष हैं, वे अपने आप पर नहीं, किसी दूसरे तत्त्व पर निर्भर हैं। इस प्रकार अन्त में एक निरपेक्ष तत्त्व को स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि इस क्रमिक परतन्त्रता की अनवस्था नहीं हो सकती है।

ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए चौथा तर्क प्रस्तुत करते हुए सन्त थामस कहते हैं कि प्रत्यक्षतः यह एक तथ्य है कि किसी भी गुण के उच्चतर और निम्नतर सोपान होते हैं। इस तथ्य पर हमारे तुलनात्मक निर्णय आधारित हैं जैसे 'यह फूल उससे अधिक या कम सुन्दर है'। गुणों का यह तारतम्य प्रत्येक गुण के वर्ग में किसी सर्वोत्तम सोपान की ओर संकेत करता है, जैसे सर्वश्रेष्ठ, सबसे सुन्दर, इत्यादि। भिन्न-भिन्न गुणों का सर्वोत्तम सोपान निम्नतर सोपानों का कारण या स्रोत मना जाता है। इसके अतिरिक्त सत्यम्, शिवम, सुन्दरम् वस्तुतः गुणों का तादात्म्य है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सब गुणों का उच्चतम स्रोत या कारण एक ही है, अर्थात् परमेश्वर।

सन्त थामस एक्विनास द्वारा प्रयुक्त पांचवाँ तर्क प्रयोजनमूलक तर्क है। इसके अनुसार यह अनुभव से ज्ञात है कि बुद्धि-रहित तत्त्व भी किसी उद्देश्य की प्राप्ति की ओर निर्दिष्ट प्रतीत होते हैं, लेकिन उद्देश्य-प्राप्ति की ओर निर्देशन में बुद्धि का प्रयोग निहित है। इसलिए एक ऐसे तत्त्व की आवश्यकता है, जो विश्व भर के सब तत्त्वों का नियंत्रण करता है। सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होने के कारण वह नियन्त्रण केवल परमेश्वर का ही हो सकता है।

ईसाई धर्म के दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त तर्कों को विश्लेषित करके देखा जाय तो सभी तर्कों को तीन प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है–कारणता मूलक तर्क, सत्तामूलक तर्क तथा प्रयोजनमूलक तर्क। कारणतामूलक तर्क के द्वारा ईश्वर को समस्त जगत् का मूल कारण अथवा आदि कारण बताया गया है तथा स्वयं ईश्वर को अकारण कहा गया है। सत्तामूलक तर्क के द्वारा ईश्वर के विचार अथवा प्रत्यय के आधार पर ईश्वर की सता सिद्ध की गई है। प्रयोजनमूलक तर्क द्वारा यह कहा गया है कि जगत् की सभी वस्तुयें किसी न किसी प्रयोजन की सिद्धि की ओर अग्रसर हैं जिनके नियमन के लिए ईश्वर की आवश्यकता मानी गई है। इस सन्दर्भ में शैव-सिद्धान्त द्वारा प्रस्तुत तर्कों के साथ तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो काफी

समरूपता पाई जा सकती है। शैव-सिद्धान्त में कारणतामूलक तर्क को सृष्टिमूलक तर्क के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार जगत् कार्य रूप है तथा इसका कारण ईश्वर है। ईश्वर समस्त जगत् का कारण है किन्तु स्वयं अकारण है। ईसाई धर्म में सत्तामूलक तर्क में ईश्वर के प्रत्यय के आधार पर उसके कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता मानी गई है। शैव–सिद्धान्त धर्म में सत्तामूलक तर्क को सृष्टिमूलक तर्क के अंग के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार जगत् की सृष्टि में शक्ति प्रयुक्त हुई है अतः शक्ति के धारक अथवा आधार के रूप में ईश्वर की सत्ता मानी गई है। शैव–सिद्धान्त धर्म में प्रयोजनमूलक तर्क को विशेष अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। इसके अनुसार जगत् की सृष्टि आत्माओं की भलाई अथवा उद्धार करने के लिये की गई है। जीवात्मा जगत् को साधन के रूप में प्रयोग करता है। मोक्ष प्राप्ति के लिये कर्म करने अथवा प्रयास करने में जगत् की साधनता को शैव–सिद्धान्त में माना गया है। इसके अनुसार ईश्वर आत्मा को उसके अनादि बन्धन से मुक्त कराने के लिये अनुग्रह स्वरूप जगत् की सृष्टि करता है।

४. ईश्वर का स्वरूप

शैव–सिद्धान्त धर्म में ईश्वर को शिव से अभिहित किया गया है। शिव परमतत्त्व अथवा परम सत्ता है। शिव अनुभवातीत सत्ता है। शैव–सिद्धान्त में इसे शब्द और विचार के परे कहा गया है, इसलिए यह किसी द्वारा ज्ञात नहीं हो सकता। कोई कल्पना या प्रतीक उसे व्यक्त नहीं कर सकती। भावना या विचार के परे होने से शिव मानव बुद्धि की पहुँच के बाहर है। शैव–सिद्धान्त अनुभव से ज्ञात वस्तु को असत्य मानता है क्योंकि ये बोधगम्य और अबोधगम्य दोनों होती हैं। इनका प्रत्यक्ष तब होता है जब ये माया के तत्त्वों में विकसित होती हैं। अपने प्रारम्भिक अथवा अविकसित अवस्था में इनका प्रत्यक्ष नहीं होता। इस अवस्था में ये अबोधगम्य होती हैं। यदि ईश्वर इन्द्रिय प्रत्यक्ष अथवा आनुभविक ज्ञान का विषय होता तो वह वैसे ही असत्य होता और परिणामस्वरूप नाशवान होता जैसे आनुभविक ज्ञान के विषय (घट आदि)। यदि ईश्वर अन्तिम रूप से किसी भी साधन द्वारा अज्ञेय होता, तब वह खरगोश की सींग की भाँति अनस्तित्ववान होता जो कभी ज्ञात नहीं हो सकता। इसलिए शैव–सिद्धान्त ईश्वर की आध्यात्मिक सत्ता मानता है।

सामान्य आनुभविक ज्ञान द्वारा शिव ज्ञेय नहीं हो सकता परन्तु शैव–सिद्धान्त के अनुसार उसकी अनुभूति हो सकती है। यह आनुभविक ज्ञान के लिए अथवा पशुज्ञान के लिए अज्ञेय है, किन्तु दिव्य ज्ञान के लिए ज्ञेय है। शिव की अनुभूति, जो उसके अनुग्रह द्वारा प्राप्त की जाती है, आत्मा को शिव के स्वरूप का सत्य ज्ञान कराती है। शैव–सिद्धान्त की मान्यता है कि शिव इन्द्रिय प्रदत्त बोध के लिए अज्ञेय है किन्तु उच्चतर ज्ञान द्वारा बोधगम्य हो सकता है। शैव–सिद्धान्त के अनुसार जो आनुभविक ज्ञान द्वारा प्राप्य है वह शिव का अनुग्रह है। शिव गुरू रूप में प्रकट होता है और आत्माओं को अपना स्वरूप ज्ञान कराता है। आनुभविक ज्ञान ईश्वर को समाहित नहीं कर सकता क्योंकि ज्ञान के सभी साधन असत्य और अचेतन हैं। इसलिए शैव–सिद्धान्त के अनुसार शिव के अनुग्रह द्वारा प्राप्त अनुभूति तथा श्रुतियों के आधार पर शिव के स्वरूप का विवेचन किया जा सकता है।

शैव–सिद्धान्त धर्म में शिव का जो स्वरूप विवेचन मिलता है उसमें परमतत्त्व तथा ईश्वर की अवधारणाओं का समन्वय प्राप्त होता है। शिव में परमतत्त्व की विशेषताओं के साथ धार्मिक ईश्वर की विशेषताएँ भी हैं। शैव–सिद्धान्त के अनुसार

शिव पूर्ण, असीम, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, अपरिवर्त्य, सत्, चित्, आनन्द, ज्ञान स्वरूप तथा आत्म–चेतना से युक्त है। शिव को शैव–सिद्धान्त में शक्तिरूप माना गया है। शक्ति शिव का अविभाज्य मूलभूत भाग है। यह शिव का स्वरूप ही है। बिना शक्ति के शिव अचिन्त्य है। शक्ति शिव के स्वरूप को अभिव्यक्त करती है। शक्ति द्वारा ही शिव का रूप निर्माण होता है। शक्ति ईश्वर की गति है जिसके द्वारा ही ईश्वर अपने कृत्यों का प्रतिपादन करता है। शक्ति की गतिशीलता के ही कारण ईश्वर के लिए सर्वशक्तिमत्ता का प्रयोग होता है। ईश्वर अपनी इसी शक्ति के कारण आत्मा और अचेतन तत्त्व पर कार्य कर सकता है। शक्ति की मध्यस्थता से ही शिव एक ही समय में विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण होता है। शक्ति को साधन के रूप में प्रयोग करने से ईश्वर आत्माओं में अनुग्रह के रूप में रहता है और विश्व को परिचालित करता है। शक्ति के प्रयोग से ही वह आत्माओं का उद्धारक, स्रष्टा, पालक और संहारक भी है। शिव सभी वस्तुओं को अपनी शक्ति द्वारा व्याप्त करता है। वह आत्माओं और जगत् में अन्तर्भूत माना गया है क्योंकि अपनी शक्ति द्वारा उनको परिचालित करता है। उसी समय शिव विश्वातीत भी है क्योंकि उन पर किए गए कार्यों द्वारा प्रभावित नहीं होता तथा स्वरूप में उनसे श्रेष्ठ है। सभी सत्ताओं को व्याप्त करने में शिव को किसी प्रकार की गति नहीं करनी पड़ती है जिससे शिव में परिवर्तन की सम्भावना हो। शक्ति की अन्तर्यामिता के कारण ही सभी सत्तायें सक्रिय होती हैं इसलिए शिव को सभी सत्ताओं का सार भी कहा जाता है। शिव की व्यापकता का उदाहरण आकाश से दिया जाता है, परन्तु शिव आकाश के समान जड़ नहीं है। वह देश–कालातीत है। देश–काल की सीमायें उसके लिए नहीं हैं। वह देश–काल को भी व्याप्त करता है, इसलिए उसे सर्वव्यापी कहा जाता है।

शिव की शक्ति का स्वरूप चेतना है। यह एक है और पराशक्ति से अभिहित है। यह शक्ति विभिन्न कार्यों को सम्पादित करने के लिए उनके अनुसार विभिन्न हो जाती है। यद्यपि शक्ति विभिन्न रूप ग्रहण करती है किन्तु यह अनेक नहीं बल्कि एक ही है। विभिन्न कार्यों में अपनी अभिव्यक्ति के कारण यह केवल अनेक जैसा प्रतीत होती है। कार्य की विविधता के अनुसार यह तीन भागों में विभाजित हो जाती है, यथा–इच्छाशक्ति, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति। शक्ति का स्वरूप शुद्ध चेतना है परन्तु उसमें इच्छा और क्रिया भी समाहित है क्योंकि जहाँ चेतना है वहाँ कार्य की इच्छा और शक्ति भी है। ये शक्तियाँ पुनः विभिन्न कार्यों के अनुसार अनेक में विभाजित हो जाती हैं।

इच्छा शक्ति ईश्वर का अनुग्रह है जो आत्मा को मल से मुक्त करने में और उन्हें मुक्ति प्रदान करने में निहित है। यह ईश्वर का प्रेम है जिसे वह आत्माओं पर उदारतापूर्वक व्यय करता है। ज्ञानशक्ति उसके जानने का साधन है जिससे वह जो करने की इच्छा करे उसे कर सकता है। ज्ञानशक्ति द्वारा वह सबको पूर्णतया जानता है। क्रिया शक्ति से वह अपने कार्यों को सम्पादित करता है। क्रियाशक्ति उसकी योजना के अनुसार अथवा उसकी इच्छा के अनुसार सम्पूर्ण जगत् को चलाती है।

त्रिविध वर्णित शक्ति में इच्छा शक्ति अपने स्वरूप में बिना किसी परिवर्तन के सदैव कार्य करती है। ज्ञान और क्रिया शक्ति पाँच प्रकार से कार्य करती हैं। जब ईश्वर ज्ञान शक्ति से कार्य करता है, वह शिव कहा जाता है, जब वह क्रिया शक्ति से कार्य करता है, उसे शक्ति कहा जाता है। जब वह ज्ञान और क्रिया के बराबर शक्ति से कार्य करता है, उसे सदाशिव कहा जाता है। जब ज्ञानात्मक पक्ष घटता है जबकि क्रियात्मक पक्ष बढ़ता है, वह महेश्वर कहा जाता है। जब ज्ञान पर क्रिया का प्राधान्य होता है, उसे शुद्ध विद्या कहा जाता है।

ईश्वर विभिन्न कार्यों का सम्पादन करने के लिए विभिन्न रूप धारण करता है किन्तु उसके मूल रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। जिस प्रकार ईश्वर अपने विभिन्न रूपों में रहकर कार्य करता है उसी प्रकार पराशक्ति शक्ति के विभिन्न रूपों में रहकर कार्य करती है। पराशक्ति शिव के प्रकारों से अभिव्यक्त होती है; शिव स्वयं को शक्ति के प्रकारों से अभिव्यक्त करता है। शक्ति द्वारा गृहीत सभी रूप शिव और शक्ति में उभय हैं। शक्ति नाद से पृथ्वी पर्यन्त सभी तत्त्वों को नियन्त्रित करती हैं। शिव शक्ति सहित सभी चीजों को नियन्त्रित करता है। उनके द्वारा सृष्ट सभी वस्तुयें शिव और शक्ति के रूप हैं। शक्ति शिव की उर्जा है। यह उसका ज्ञान भी है, क्रिया भी है और इच्छा भी है। यद्यपि इसके कार्य विभिन्न हैं फिर भी शक्ति एक है। ईश्वर अपने सभी कृत्य शक्ति के साधन द्वारा सम्पादित करता है, अतः उसके सभी कार्याधिकार शक्ति पर आरोपित हैं।

यहाँ एक सहज प्रश्न उठता है कि यदि दोनों एक ही हैं तो उनके लिए दो नामों का प्रयोग क्यों किया जाता है? इसके उत्तर में शैव–सिद्धान्ती कह सकते हैं कि यह शिव में निहित दो भावों को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। शिव उस परमसत्ता का संकेत करता है जो निर्विकार, तटस्थ और अनुभवातीत है। शक्ति उस सत्ता की गतिशीलता का संकेत करने के लिए है जिससे वह आत्मा और जगत् के साथ सम्पर्क में आ सकता है। वास्तव में यहाँ कोई अर्थ भेद अथवा प्रकार भेद

नहीं है। यहाँ केवल संश्लेषणात्मक भेद है। शिव और शक्ति में अपरिहार्य सम्बन्ध है। शिव शक्ति की प्रशान्त अवस्था है। शक्ति और शिव एक हैं। शक्ति में शिव है और शिव में शक्ति। शक्ति अपने धारणकर्ता से भिन्न नहीं है। सत्ता में अन्तर्विष्ट शक्ति सम्भवन है। सत्ता शिव है, सम्भवन शक्ति है। परवर्ती उत्तरवर्ती का धर्म है, जैसे उष्मा अग्नि की विषेषता है या प्रकाश सूर्य का गुण है। दोनों के बीच का सम्बन्ध समवाय का सम्बन्ध माना जाता है। शिव स्वयं में शुद्ध सत् है परन्तु आत्माओं और जगत् के सन्दर्भ में वह शक्ति या प्रकाश है।

शक्ति त्रिविध या पञ्चविध कही जाती है फिर भी अपने सार में यह एक शिव ही है। यद्यपि यह ईश्वर से अत्यन्त समीप से सम्बन्धित है फिर भी यह सम्बन्ध तादात्म्य का नहीं कहा जा सकता। शिव और शक्ति के बीच के सम्बन्ध की तुलना सूर्य और उसके प्रकाश से की जाती है। प्रकाश की किरणें सूर्य के बिना अस्तित्व में नहीं आ सकतीं फिर भी सूर्य से तादात्म्य निरूपण नहीं किया जाता। इसी प्रकार शिव और शक्ति एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। बिना शक्ति के शिव अपना कोई भी कृत्य सम्पादित नहीं कर सकता। आत्माओं को मोक्ष प्राप्त कराने की इच्छा से अपनी इच्छा शक्ति के प्रयोग में वह चाहता है कि वे उसका अनुग्रह प्राप्त करें। ज्ञानशक्ति द्वारा वह अच्छे और बुरे कर्मों का फैसला करता है और योग्यतानुसार अनुग्रह प्रदान करता है। क्रिया शक्ति सृष्टि कराती है। अपनी शक्ति द्वारा सभी वस्तुओं को व्याप्त कर वह सभी वस्तुओं को जानता है और अपनी शक्ति के कारण ही वह सर्वशक्तिमान् कहा जाता है। वह अन्ततः सभी वस्तुओं का कारण है क्योंकि वह अप्रत्यक्ष रूप से सभी विषयों और घटनाओं से अपनी शक्ति द्वारा सम्बन्धित है।

शैव–सिद्धान्त धर्म के अनुसार शिव प्रत्येक प्रकार की अपूर्णता से स्वतन्त्र और शुद्ध है। शिव की परमशुद्धता यह आपादित करती है कि वह दोषों और सीमितताओं के संदूषण से दूर होने के कारण जगत् से परे है। उसका स्वरूप निश्चित विचारों के पदों में व्यक्त नहीं किया जा सकता, न ही ससीम सत्ताओं के साथ उसकी तुलना ही की जा सकती है जो हमारे बोध–दायरे में आती हैं, क्योंकि ईश्वर का कोई भौतिक अस्तित्व नहीं है जो हमारे ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव का विषय हो सके। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि शैव–सिद्धान्त ईश्वर का अवतार नहीं मानता है। उसके अनुसार सृष्टि का कर्ता स्वयं सृष्टि की प्रक्रियाओं का विषय नहीं हो सकता। यह मान्यता ईश्वर को सभी ससीम प्राणियों से ऊपर और परे अनुभवातीत सत्ता बना देती है। परन्तु इसके साथ ही ईश्वर की अन्तर्यामिता पर भी समान जोर दिया गया है। आत्माओं और पदार्थ से सर्वथा भिन्न (तात्त्विक दृष्टि से) होते हुए भी वह

उनमें निवास करता कहा गया है। सभी भौतिक और मानसिक जगत् शिव का शरीर कहा गया है। ईश्वर सब है, परन्तु सब ईश्वर नहीं हो सकता।

शैव-सिद्धान्त धर्म में शिव को व्यक्तिरूप ईश्वर अथवा वैयक्तिक ईश्वर माना गया है तथा ईश्वर को निर्वैयक्तिक मानने का विरोध किया गया है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार शिव में आत्म-चेतना है इसलिए शिव को निर्वैयक्तिक नहीं कहा जा सकता। इसके अनुसार ईश्वर की सत्तारूप सभी विशेषतायें उसके दिव्य व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं। ईश्वर का स्वयं उससे पूर्णतया सम्बन्ध है। उसका सार स्वयं उसके लिए है और यह सब सम्बन्ध आन्तरिक है। दिव्य चेतना व्यक्तित्व रूप में ईश्वर को आबद्ध करती है जो ईश्वर में है और जिनका कारण भी ईश्वर है। इस प्रकार ईश्वर के लिए प्रयुक्त 'व्यक्ति रूप' यह व्यक्त करता है कि ईश्वर चेतन सत्ता है, यह कोई भौतिक शक्ति नहीं है।

व्यक्तित्व स्थूल और आध्यात्मिक दोनों सत्ताओं का संकेत करता है। शिव ही अकेले मूल सत्ता है जो सीमित नहीं है। वह सार्वभौम तत्त्व है जो प्रत्येक मानव आत्मा को व्याप्त करता है और जो उसी समय शुद्ध और इसका स्रोत भी है। शैव-सिद्धान्ती व्यक्तित्व को वैयक्तिकता से अलग करते हैं। उनके अनुसार विभेद और सीमितता वैयक्तितता से परिणमित होता है न कि व्यक्तित्व से। व्यक्तित्व आत्मा के सार से सम्बन्धित होता है और वैयक्तिकता इसके रूप से। व्यक्तित्व अचित् या जड़ अथवा अबौद्धिक पदार्थ के विरोध में आता है। ईश्वर कभी मनुष्य या पशु की तरह व्यक्तिवत नहीं किया जा सकता। इस प्रकार निर्वैयक्तिक का स्पष्टतः अर्थ होगा अबौद्धिक, अचेतन और भौतिक। अतः इस अर्थ में भी ईश्वर निर्वैयक्तिक नहीं हो सकता।

सामान्यतः बुद्धि द्वारा ज्ञेय ईश्वर को सगुण तथा अज्ञेय ईश्वर को निर्गुण कहा जाता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार शिव निर्गुण है क्योंकि बुद्धि गुणोत्पादित होने से केवल गुणोत्पादित वस्तुओं को ही ग्रहण कर सकती है। शिव गुणातीत है इसलिए बुद्धि की पहुँच के बाहर है। सगुण और निर्गुण का शाब्दिक अर्थ करने पर सगुण का तात्पर्य 'गुण के साथ' तथा निर्गुण का तात्पर्य 'बिना गुण के' होगा। परन्तु ईश्वर को सगुण मानने वाले इसका अर्थ 'अच्छे गुणों के साथ' तथा 'बिना खराब गुणों के' करते हैं। शैव-सिद्धान्त की मान्यताओं के अनुसार यह व्याख्या उचित नहीं हो सकती क्योंकि ये दो शब्द एक ही चीज के अर्थ के लिए हैं। इस प्रकार निर्गुण का अर्थ 'बिना अच्छे गुणों के' हो सकता है। लेकिन इसका अर्थ 'बिना खराब गुणों के' करना पक्षपातपूर्ण होगा। वास्तव में गुण शब्द कोई अच्छी या बुरी

विशेषता अर्थ नहीं रखता। यह एक पारिभाषिक शब्द है जो सांख्य, वेदान्त, उपनिषद्, गीता आदि में प्रयुक्त हुआ है। यह तीन गुण सत्त्व, रजस, तमस् अर्थ रखता है जो प्रकृति या प्रधान के गुण हैं। इसके अनुसार सगुण का अर्थ हुआ सत्त्व, रजस् और तमस् से लिप्त स्थूल तत्त्व और निर्गुण का अर्थ हुआ इन तीन गुणों या स्थूल तात्त्विक आवरणों से मुक्त। शैव-सिद्धान्त में शिव इन गुणों से परे है, इसलिए निर्गुण है। ईश्वर को सगुण मानने वाले दार्शनिक अपने ईश्वर को सत्त्व गुण से लिप्त मानते हैं। शैव-सिद्धान्त के अनुसार उसका वास्तविक स्वरूप मानव बुद्धि की पहुँच के बाहर है। उसे किसी भी नाम से सम्बोधित किया जा सकता है जो प्रतीक मात्र होगा।

सगुण ईश्वर को स्वीकार कर हम कोई भी नाम प्रयोग कर सकते हैं और उपासना के लिए कोई भी रूप प्रतीक रूप में ले सकते हैं। परन्तु शैव-सिद्धान्त की यह मान्यता है कि ईश्वर मनुष्य जैसा नहीं है जो अज्ञान और पदार्थ से आवृत है। ईश्वर प्रकृति के गुणों से लिप्त मनुष्य जैसा पैदा नहीं हो सकता। ईश्वर अजन्मा है, इसलिए भी निर्गुण है। शैव-सिद्धान्ती सगुण ईश्वर को ईश्वर स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार सगुण ईश्वर केवल नाम का ईश्वर है, वास्तविकता में पशु या आत्मा है। इस सन्दर्भ में शैव-सिद्धान्त शिव और आत्मा में विभेद करता है। आत्मा भी स्वयं न तो उत्पन्न है और न ही मर सकता है। जो उत्पन्न है या जो मरता है वह माया के गुणों से निर्मित भौतिक शरीर है। यह भौतिक शरीर ही जन्म और मृत्यु के माध्यम से आत्मा को पदार्थ से जोड़ता है। इस प्रकार आत्मा जो सकल हैं, सगुण कहे जाते हैं। किन्तु ईश्वर और पदार्थ के बीच यह कड़ी सहायक नहीं होती, इसलिए भी ईश्वर निर्गुण है।

शैव-सिद्धान्त में शिव न तो रूपी है, न अरूपी है और न ही रूपारूपी क्योंकि शिव चित् स्वरूप है न कि पदार्थ। शैव-सिद्धान्त की मान्यता है कि सभी रूप केवल पदार्थ के होते हैं जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं। ईश्वर कभी हमारी इन्द्रियों के ज्ञान का विषय नहीं हो सकता, इसलिए कोई भी रूप या शरीर ग्रहण नहीं कर सकता।

यदि कहा जाय कि ईश्वर शरीरी है तो सभी शरीरधारियों के समान उसे भी एक शरीर देने वाला होना चाहिए क्योंकि मनुष्य शरीरधारी है और उसे शरीर देने वाली एक सत्ता मानी जाती है। इस प्रकार ईश्वर को भी किसी वाह्य सत्ता से नियन्त्रित होना चाहिए या फिर मनुष्य को भी रूप बदलने जैसी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। परन्तु मनुष्य को इच्छानुसार रूप धारण की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। योगी भी शरीर

परिवर्तन करते माने जाते हैं परन्तु योगियों और ईश्वर में पर्याप्त अन्तर है। योगी मल से आबद्ध आत्मा अर्थात् पशु है। वह ससीम है, ईश्वर असीम है। ईश्वर की चित् शक्ति के प्रभाव से ही वह रूप परिवर्तन में समर्थ होता है। मलाबद्ध आत्माओं के रूप मायोत्पादित हैं। शिव के पास अपने रूप के लिए शक्ति है। शक्ति कभी सीमित नहीं हो सकती। सभी रूप उत्पन्न और नष्ट होते हैं, परन्तु यह कथन शक्ति पर लागू नहीं होता। शक्ति शिव के समान ही शाश्वत है।

ईश्वर को अशरीरी कहना भी उचित नहीं है परन्तु वह षडध्वाओं से भी परे है। विश्व में पायी जाने वाली सभी वस्तुयें या तो सरूप हैं या अरूप अथवा सरूप-अरूप दोनों हैं। एक वस्तु दूसरे का स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकती। आकाश के समान आकार विहीन वस्तुओं का रूप नहीं हो सकता और पृथ्वी जैसी साकार वस्तुयें रूपविहीन नहीं हो सकती। जो वस्तुयें सरूप और अरूप दोनों हैं उन्हें स्पष्टतया सरूप या अरूप नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार षडध्वाओं में से कोई भी वस्तु दूसरे का रूप ग्रहण नहीं कर सकती। शिव को अशरीरी या अरूपी कहना भी उसे सीमित करना है क्योंकि किसी वस्तु को एक गुण से विशेषित करना उसे अन्य से भिन्न करना अथवा उसे उससे सीमित करना है और ईश्वर किसी भी प्रकार सीमित नहीं किया जा सकता। इसलिए ईश्वर को किसी भी स्वरूप का नहीं कहा जा सकता।

शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि ईश्वर आध्यात्मिक सत्ता है, इसलिए उसका कोई रूप हो भी नहीं सकता। उनके अनुसार हमारी शरीर-संरचना हमारे कर्म का परिणाम है, इसलिए प्रकृति का उत्पादन है। परन्तु ईश्वर कर्म से ऊपर है, इसलिए उसका शरीर (रूप) प्रकृति का नहीं हो सकता। अतः वह शुद्ध रूप से आध्यात्मिक या ज्ञान रूप है। ईश्वर के पास बन्धनकारी तत्त्व यथा मूल मल, कर्म आदि नहीं है; उसका शरीर (रूप) हमारे शरीर के समान नहीं हो सकता। वह शक्तिमय, अनुग्रह रूप है। यहाँ स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि यदि ईश्वर शुद्धतया तत्त्वातीत है और यदि मनुष्य उसे किसी भी तरह जान नहीं सकता या उसके साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता तो उसमें विश्वास या आस्था नहीं रखा जा सकता। ऐसी दशा में यदि आस्था हो तो उसका कोई उपयोग नहीं होगा। इसलिए शैव-सिद्धान्ती शिव की अनुभूति होना मानते हैं। उनके अनुसार यह मानव मन से प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं है किन्तु दिव्य अनुग्रह से सम्भव हो सकता है।

शैव-सिद्धान्त के अनुसार शिव के विषय में जो कुछ बोधगम्य हो सकता है अथवा जिसकी विवेचना की जा सकती है, वह है शिव का अनुग्रह स्वरूप।

मनुष्य अपनी सीमित बुद्धि से शिव के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझ सकता। उसे अपने इस प्रयास में निराशा ही मिलती है। ईश्वर के जिस स्वरूप की अनुभूति मनुष्य को होती है वह उसका अनुग्रह है। उसके सभी कार्य अनुग्रह हैं। उसकी सभी अभिव्यक्तियाँ उसके अनुग्रह की अभिव्यक्तियाँ हैं। वह अपने अनुग्रह का यह रूप आत्माओं को मुक्त करने के लिए अभिव्यक्त करता है। यह अनुग्रह पहले बद्ध आत्माओं से छिपा रहता है। वे नहीं जानते कि उसका रूप विश्व के परे है। वे इस तथ्य से अनभिज्ञ रहते हैं कि वह जगत् का जीवन है और इसमें निवास करता है। इस अज्ञान के कारण वे उसे इस जगत् के रूपों में से एक नाम दे देते हैं किन्तु शिव आत्माओं को अपूर्व प्रेम करता है। अपने इस प्रेम के कारण वह नहीं चाहता कि आत्माएँ बन्धन में रहें। वह आत्माओं पर अनुग्रह करता है। उन्हें ज्ञानबोध कराता है। शिवानुभूति इस प्रकार उसके अनुग्रह से ही होती है, मनुष्य की सीमित ज्ञानशक्ति से नहीं। शिव का अनुग्रह शिव के पञ्चकृत्यों के माध्यम से व्यक्ति को प्राप्त होता है। ये पञ्चकृत्य हैं-- सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह। इनमें से प्रथम चार कृत्यों की पराकाष्ठा पञ्चमकृत्य अनुग्रह में है।

सृष्टि द्वारा आत्मा को मायोत्पादित जगत् प्रदान किया जाता है जहाँ आध्यात्मिक विकास के लिए अपेक्षित सभी वस्तुएँ उपलब्ध करायी जाती हैं। आत्मायें अपने मूल स्वरूप में दिव्य हैं परन्तु उनकी शक्तियाँ आणव से आवृत हैं। प्रथम कृत्य में शिव का उद्देश्य होता है आवरण को हटाना और उन्हें उनके मूल स्वरूप की अनुभूति करने में सहायता करना। अशुद्ध माया प्रदत्त भौतिक जगत् और शरीर, इन्द्रियों, मन और अन्य साधनों द्वारा आत्मा का अज्ञान आंशिक रूप से दूर किया जा सकता है। यह सभी वस्तुयें सृष्टि द्वारा प्रदान की जाती हैं। शिव का दूसरा कृत्य शरीर को पालने की शक्ति है। सृष्टि द्वारा जो कुछ प्राप्त रहता है उसे स्थिति द्वारा अस्तित्व में बनाये रखा जाता है। स्थिति की इस अवधि में आत्मा नवीन कार्य करता है और कष्ट तथा आनन्द अनुभव करता है। इसमें यह बहुत से अन्य आत्माओं के साथ जुड़ता है जो कर्म करने और अनुभव प्राप्त करने में सन्लग्न होते हैं। एक आत्मा का कर्म अन्य आत्माओं के कर्मो को प्रभावित करता है। इस प्रकार सृष्टि और स्थिति कृपा–कार्य कहे जाते हैं। इनसे प्रदत्त साधनों द्वारा आत्मा कर्म करता है और आणव के आवरण को दूर करने की शक्ति एकत्रित करता है। कर्म द्वारा अनुभव प्राप्त कर आणव को दूर करने की शक्ति प्राप्त करने की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल है। यह कार्य शीघ्रता में नहीं हो जाता। इसके लिए एक ही शरीर पर्याप्त नहीं होता। इस जटिल प्रक्रिया द्वारा आत्मा का थक जाना भी

स्वाभाविक ही है। ईश्वर आत्माओं को आराम देने के लिए अपना तृतीत कृत्य संहार सम्पादित करता है। इसके द्वारा आत्मा जन्म और मृत्यु के चक्र में पड़ता है। मृत्यु द्वारा उसे अल्पकालिक अवकाश मिलता है। पुनर्जन्म द्वारा वह अपने कर्मों के अनुसार दूसरा शरीर धारण करता है। इस प्रकार उसे हर बार एक अवसर और मिलता है।

सांसारिक सुख और आनन्द का प्रलोभन पाश की उग्रता की समाप्ति के लिए आवश्यक है क्योंकि इसके आकर्षण के कारण ही तो आत्मा उन्हें अपनायेगा और कर्म में प्रवृत्त होगा। इसके लिए ईश्वर अपने चतुर्थ कृत्य निग्रह (तिरोधान) को सम्पादित करता है। यह उसकी तिरोधान शक्ति की अभिव्यक्ति है। इसके द्वारा वह वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को छिपा लेता है। सांसारिक वस्तुयें इतनी आनन्दप्रद और आकर्षक प्रस्तुत की जाती हैं कि वे आत्माओं को परम सुख देने वाली प्रतीत होती हैं। इसके द्वारा मल सक्रिय हो जाता है।

आत्माओं का मोहभंग करने के लिए ईश्वर अपने पञ्चम कृत्य अनुग्रह का सम्पादन करता है। ईश्वर के अनुग्रह से आत्मा को वास्तविकता का बोध हो जाता है। वह आणव के आवरण को उतार फेंकने में समर्थ हो जाता है। जन्म और मृत्यु के कष्ट-प्रद और थकान पूर्ण चक्र में पर्याप्त यात्रा करने के पश्चात् वह समझ जाता है कि सांसारिक अच्छी और बुरी वस्तुयें समान रूप से व्यर्थ हैं। इस अवस्था में आने तक आत्मा का मल पूर्णतः पक जाता है। उसे अशुद्ध माया प्रदत्त साधनों की अपेक्षा नहीं रह जाती। परमशिव उस पर अनुग्रह करता है। अपने अनुग्रह से उसे अपने स्वरूप का बोध कराता है। इस अवस्था में आत्माओं के अज्ञान को उपदेश द्वारा उन्हें दीक्षा देकर दूर किया जाता है। मल के दूर हो जाने पर सारी अपूर्णतायें और कष्ट दूर हो जाते हैं। बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर आत्मा शिव के साथ एकत्व स्थापित कर लेता है।

शिव पञ्चकृत्यों को अपनी उपस्थिति से सञ्चालन करता है। इन कृत्यों का तात्पर्य आत्माओं को शुद्ध और मुक्त करना है। यह कृपा कार्य हैं। यह आत्माओं का अन्धकार से प्रकाश की ओर, बन्धन से स्वतन्त्रता की ओर और जीवरूपता से शिवता की ओर विकास है। ईश्वर का अनुग्रह स्वयं को ज्ञान, सौन्दर्य, शक्ति, शान्ति और आनन्द के रूप में प्राणियों के जगत् का निर्माण, पालन, विकास, लय और पुनर्विकास के लिए अभिव्यक्त करता है। पञ्चकृत्यों का सम्पादन शिव आत्माओं के प्रति अपने प्रेम के कारण करता है। इसलिए शैव-सिद्धान्ती उसे प्रेम स्वरूप मानते हैं।

शैव–सिद्धान्ती सन्तों के गीतों में शिव के प्रेम स्वरूप का वर्णन मिलता है। शिव सन्तों को अथवा आत्माओं को तो प्रेम करता ही है वे स्वयं भी शिव को प्रेम करते हैं। तिरुमूलर के लिए ईश्वर न केवल आत्माओं को प्रेम ही करता है बल्कि उसका सार ही प्रेम है। जहाँ प्रेम है, वहीं ईश्वर है और जहाँ ईश्वर है, वहाँ प्रेम का होना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार ईश्वर और प्रेम विनमेय पद हैं।

शिव शुभ गुणों का ईश्वर है जिसमें दया और सहिष्णुता मुख्य है। वह पाप–पुण्य के द्वैत से अछूता तथा सभी दोषों से मुक्त है। उसका मन पूर्णतया आत्माओं की भलाई करने में लगा है। इसलिए अपने भक्तों के लिए वह शहद से भी अधिक मधुर है। कुन्तरर ईश्वर को पित्तर तक कह देते हैं अर्थात् वह अपने भक्तों के प्रेम में पागल है। उसका प्रेम विशेषकर तब अभिव्यक्त होता है जब असीम कृपा से वह कर्मों के सागर में डूबते अपने भक्तों की सहायता करता है और उन्हें बन्धन से मुक्त करता है तथा अपनी एकता में लेता है। ईश्वर उनके हृदय को अपनी उपस्थिति से भर देता है जो प्रेम से उनका ध्यान करते हैं। वह भक्त के हृदय में प्रवेश करता और निवास करता कहा गया है। भक्त के मन को अपनी उपस्थिति से प्रकाशित करते हुए वह इसे अपना जैसा धारण करता है और उसकी बुद्धि में आन्तरिक प्रकाश जैसा बना रहता है। अप्पर मनुष्य और प्रकृति में प्रत्येक पूर्णता को ईश्वर का मानवता के प्रति प्रेम मानते हैं। वह ईश्वर को माता, पिता और सम्बन्धी का सम्बोधन देते हैं। ईश्वर को पिता माना जाता है क्योंकि वह आत्माओं की अच्छाई के लिए कार्य करता है। वह माता है क्योंकि स्नेह और प्रेम प्रदान करता है। वह सम्बन्धी है क्योंकि बिना प्राप्त करने की इच्छा के देता है। वह सुन्दर स्त्री है क्योंकि वह सभी भोग्य सुख प्रदान करता है।

जगत् में ज्ञात सर्वोच्च प्रेम माँ का है। इस प्रकार ईश्वर का प्रेम स्वभावतः पूर्ण माँ जैसा माना जाता है। एक माँ कभी बच्चे को नापसन्द या उससे घृणा कर सकती है परन्तु ईश्वर किसी से भी घृणा नहीं करता, यहाँ तक कि एक अत्यन्त अपराधी से भी। उसका प्रेम उतना ही निन्दक के लिए है जितना प्रशंसक के लिए । इसलिए उसका प्रेम दयापूर्ण प्रेम कहा गया है जो एक माँ के प्रेम से भी कीमती है। शिव की सारी क्रिया उसके प्रेम द्वारा प्रेरित है। उसका ऐसा कोई कार्य नहीं जो इस प्रेम को व्यक्त न करता हो। वह अपने भक्तों को प्रेम करता है और उन्हें अपने अनुग्रह से शासित करता है। वह आत्माओं का प्रेमी है। उसे जो पूर्णरूपेण प्यार करता है, उनके लिए वह स्वयं प्रेम है। मणिक्कवासगर ईश्वर के प्रेम को दया और अनुग्रह से चित्रित करते हैं। ईश्वर दया का सागर है। अपने

भक्तों के आध्यात्मिक जीवन को वह दया और अनुग्रह से पालता है। यहाँ उल्लेखनीय है कि शैव–सिद्धान्त कष्ट अथवा दुःख को भी शिव का अनुग्रह ही मानता है। यह शिव के प्रेम स्वरूप के विरुद्ध नहीं है। दुख यहाँ दण्ड–कार्य है जो आत्माओं को सुधारने के लिए किया जाता है।

ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर जगत् का स्रष्टा और उद्धारकर्ता है। ईश्वर देश–काल की सीमाओं से परे है। जगत् ईश्वर की सृष्टि है तथा इसका अस्तित्व ईश्वर पर ही निर्भर है। ईश्वर जगत् में अनवरत कार्य करता रहता है। वह भाग्य, संयोग, नवनिर्माण के कार्य करता रहता है । जगत् तथा जागतिक वस्तुओं की रक्षा एवं उनका विकास ईश्वर पर ही निर्भर है। ईश्वर ही जगत् का पालन करता है तथा ईश्वर चाहे तो जगत् की सत्ता नहीं रहेगी। ईसाई धर्म में ईश्वर को स्रष्टा तथा उद्धारकर्ता कहने के साथ ही साथ उसे प्रेम–स्वरूप कहा गया है। 'प्रेम' शब्द को ईसाई धर्म में व्यापक अर्थ में लिया गया है। ईश्वर जगत् के समस्त चर अचर प्राणियों से प्रेम करता है तथा उनकी रक्षा एवं पालन करता है। ईसाई ऐसा मानते हैं कि ईश्वर सबका ध्यान रखता है, वह कौओं–चिड़ियों को दाना चुगाता है, फूलों में रङ्ग भरता है तथा सबको अपने मार्ग पर चलाने के लिए प्रेरित करता रहता है। ईश्वर को ईसाई धर्म में पिता कहकर सम्बोधित किया जाता है। वह सारे मनुष्यों का पोषण करता है तथा उनके लिए आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध कराता है। ईश्वर अपने प्रेम के प्रकटीकरण में कोई भेद–भाव नहीं करता। वह अच्छे–बुरे सभी को समान भाव से प्रेम करता है। उसका प्रेम पिता, पुत्र तथा पवित्र आत्मा के रूप में अभिव्यक्त होता है। यह प्रेममय ईश्वर अनन्त कल्याणमय, मङ्गलमय, परमशिव (परम शुभ) है। उसमें किसी भी प्रकार की बुराई अथवा पाप की छाया तक नहीं है। ईश्वर ने प्रेम के कारण ही जगत् की सृष्टि किया है। अपने प्रेम के कारण ही वह लोगों का उद्धार करता है। लोगों को प्रेम करने में ईश्वर छोटा–बड़ा, पापी–धर्मात्मा किसी भी बात को लेकर भेद–भाव नहीं करता। वह सदैव सबका कल्याण और सहायता करने में सन्लग्न रहता है।

ईसाई धर्म एकेश्वरवाद को मानता है। उसके अनुसार ईश्वर एक है। वह पूर्ण, स्वतन्त्र, असीम, अनन्त तथा सर्वव्यापी है। वह विश्वातीत भी है और विश्वमय भी है। वह एक है किन्तु तीन रूपों में अपने को प्रकट करता है-- पिता, पुत्र तथा पवित्र आत्मा। वह जगत् में अन्तर्भूत है तथा उससे परे भी है। वह सभी चीजों में समाया है तथा उनसे ऊपर अथवा परे भी है। वह देश–काल तथा अन्य सभी प्रकार की सीमाओं से परे है। वह विश्व का स्वामी है। विश्व की सर्वोच्च सत्ता है।

वह स्वयंभू है। उसका कोई कारण नहीं है। वह सबका कारण है। वह पूर्ण स्वतन्त्र, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् है। उसे पृथ्वी तथा स्वर्ग का स्वामी कहा गया है। वह सम्पूर्ण विश्व का व्यवस्थापक है। ईश्वर की सत्ता विश्व में व्याप्त है तथा विश्वातीत भी है। विश्व में व्याप्त होने के कारण वह मानवता का ईश्वर माना जाता है तथा उसे विश्वातीत स्वर्ग का स्वामी भी कहा जाता है। ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है। ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर का व्यक्तित्व सामान्य व्यक्तित्व नहीं है वह असाधारण या विशेष है। वह पूर्ण है उसमें किसी भी प्रकार की अपूर्णता या अभाव नहीं है। उसमें अनन्त ज्ञान एवं अनन्त करुणा है।

ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर नैतिक नियमों के अनुसार ही विश्व का सञ्चालन करता है। किन्तु ईश्वर क्षमाशील एवं उद्धारक भी है। वह पापियों को भी क्षमा कर देता है। उसे नैतिक ईश्वर कहा जाता है। उसे मानव का उद्धारकर्ता एवं संत्राता कहा जाता है। वह मानव के कर्मों पर निर्णय करता है। उसकी कृपा से ही पाप से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। यहूदी धर्म में ईश्वर की कठोरता का प्रतिपादन किया गया है। वहाँ ईश्वर कठोरता से नैतिक नियमों का पालन करता है। उसका विधान दण्ड और पुरस्कार के अनुसार चलता है। ईसाई धर्म में दया और क्षमा का महत्व नियमों से अधिक है। यदि कोई व्यक्ति पाप करता है तथा पाप का प्रायश्चित करता है उसे ईश्वर क्षमा कर देता है। क्षमा तथा दया ईश्वर के विशेष गुण हैं। ईश्वर पुण्यात्माओं से तो प्रेम करता ही है, पापी लोगों से भी घृणा नहीं करता। वह पापी को भी अपने बिछड़े हुए पुत्र के समान गले लगा लेता है। इस प्रकार ईसाई धर्म के अनुसार पापी ग्राह्य है, त्याज्य नहीं। यहूदी धर्म में ईश्वर न्यायी है किन्तु अपराधी को मुक्त नहीं करता। वहाँ ईश्वर की छवि एक सम्राट जैसी है। ईसाई धर्म के अनुसार प्रेम ईश्वर का प्रमुख गुण है। ईश्वर प्रेमरूप है। प्रेम के द्वारा ही ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। ईसाई धर्म में इसीलिए ईश्वर प्रेम का सर्वाधिक महत्व है। ईश्वर उस व्यक्ति को अपनी सन्तान मानता है जो उसका उपासक है। ऐसी मान्यता है कि जिन्हें ईश्वर में श्रद्धा नहीं, विश्वास नहीं वे ईश्वरीय कोप के भाजन बनते हैं।

बाइबिल में ईश्वर को पवित्र कहा गया है। बाइबिल में प्राप्त एक वर्णन के अनुसार 'सेराफीम' अर्थात् 'अग्निमय' नामक स्वर्गदूत घोषित करता है कि 'पवित्र, पवित्र है, विश्वमण्डल का प्रभु।'[१] अपने पंखों से स्वर्गदूत अपना मुख ढॅक लेते हैं ताकि वे पवित्रतम परमेश्वर के साक्षात दर्शन न करें। इसका तात्पर्य यह निकाला जाता है कि उच्चतर श्रेणी की आत्माएँ भी परमेश्वर को देखने योग्य नहीं होतीं।

१. इसायस, ६/३.

पवित्रतम होने से ईश्वर उनसे भी अतीत होता है। यहूदी यह मानते थे कि जिस आदमी ने परमेश्वर का साक्षात्कार किया है उसकी मृत्यु अनिवार्य है। यहूदी धर्म में ईश्वर को 'एलोहीम' और 'यावे' कहा गया है। 'एलोहीम' शब्द नाम न होकर संज्ञावाची है। शामी जातियाँ इसी शब्द द्वारा परमेश्वर का बोध किया करती थीं। इसके अनुसार देवता में अनेक शक्तियाँ हैं। इसी कारण वे ईश्वर के लिए इस शब्द का प्रयोग करते थे। यह शब्द बहुवचन सूचक है। इस शब्द का प्रयोग करते हुए भी यहूदी एक ही परमेश्वर को मानते थे। एलोहीम संज्ञावाचक शब्द है तो 'यावे' ईश्वर का निर्जी नाम है। इसका शाब्दिक अर्थ प्रभु है। यहूदी मान्यता के अनुसार परमेश्वर ने मूसा नबी को अपना नाम 'यावे' बताया था। इसके अर्थ के विषय में विद्वानों में मतभेद है। किसी के अनुसार इसका तात्पर्य 'सत्' है तो किसी के अनुसार यह शब्द परमेश्वर के रहस्यमय स्वभाव पर बल देता है।

ईसाई धर्म में ईश्वर के अवतार की कल्पना की गई है। उनके अनुसार ईश्वर का पुत्र धरती पर आता है। उसे ईश्वर ही बना कर भेजता है। यहाँ अवतार को ईश्वर का ही एक प्रमुख आदेश माना जाता है। वह मानवी माता के उदर से धरती पर मनुष्य के रूप में जन्म लेता है। इस प्रकार ईसा मसीह ईश्वर के पुत्र और प्रेषित हैं। ईसा मसीह मनुष्य थे। मानवी माता से उनकी उत्पत्ति हुई थी किन्तु अन्य सामान्य मनुष्यों की भाँति वह धरती पर नहीं आये। उनका जन्म अमानवीय दैवी चमत्कार से सम्भव हुआ था। उनकी माता कुमारी थीं। ईसा मसीह के रूप में ईश्वर ने ही जन्म ग्रहण किया था। इस प्रकार ईश्वर जो देशातीत, कालातीत है, उसने अपने–आपको देश–काल से आबद्ध कर लिया। वह मनुष्य की तरह जिया, मनुष्यों के लिए जिया और सदा उसने ईश्वर से अपना सम्बन्ध कायम रखा। एक साथ उसने ईश्वर–सत्य की उपलब्धि और अपने साथी अन्य मानवों के प्रति उत्तरदायित्व को निबाहने का यत्न किया। यहूदियों में मसीह की प्रतीक्षा की धारणा प्रचलित थी। ओल्ड टेस्टामेन्ट में यह घोषणा की गई थी कि ईश्वर द्वारा प्रेषित मसीह का आगमन होगा जो सबको मुक्ति प्रदान करेगा। किन्तु मसीह की कल्पना एक राजा के रूप में थी। वह दाऊद राजा के वंश से पैदा होने वाला था। ईसा के चमत्कारों को देखकर तथा उनके ओजस्वी उपदेशों को सुनकर बहुत से यहूदी विश्वास करने लगे थे कि वही प्रतिज्ञात मसीह है।[१] पेत्रुस नामक एक धार्मिक व्यक्ति ने ईसा को ही मसीह बताया था।[२] प्रचलित अवधारणा में मसीह का आदर्श एक ऐसे सांसारिक

१. योहन, ६/१/१५.

२. मत्ती, १६/१६.

राजा का था जो यहूदी प्रजा को रोमन साम्राज्य से स्वतन्त्र कर उसकी राजनीतिक शक्ति पुनः स्थापित करता। इसके विपरीत ईसा से प्रस्तुत मसीह सम्बन्धी विचार आध्यात्मिक था इसलिए मसीह कहलाना अस्वीकार न करते हुए भी ईसा ने अपने शिष्यों को कड़ी चेतावनी दी कि तुम लोग किसी को भी यह नहीं बाताओगे कि मैं मसीह हूँ। यहूदी परम्परा में जिस मसीह की प्रतीक्षा थी उसे ईश्वर नहीं वरन् मानव माना जाता था। ईसा के शिष्य और भक्त ईसा मसीह को ईश्वर मानते थे। न्यू टेस्टामेन्ट में ईसा मसीह के लिए 'प्रभु' शब्द का प्रयोग किया गया है जो यूनानी मूल भाषा में कुरियोस है। यह यावे का समानार्थी माना जाता है। ईसा के पुनरुत्थान के बाद सन्त पेत्रुस ने कहा था, 'जिन्हे आप लोगों ने क्रूस पर चढ़ाया, ईश्वर ने इन्हीं ईसा को प्रभु भी बना दिया है और मसीह भी।[१]

ईसा अपने आप को मसीह होना स्वीकार तो करते थे किन्तु अपने लिए इस शब्द का प्रयोग न करके 'मानव का पुत्र' कहना ज्यादा पसन्द करते थे। वह अपने आपको मानव की दुर्बल दशा का सहभागी मानते थे। दानिएल नबी के ग्रन्थ में एक वर्णन के अनुसार, 'आकाश में बादलों में कोई मानव पुत्र सा चला आ रहा है उसका शासन चिरकालीन है, जिसका कभी अन्त नहीं होगा।[२] 'मानव पुत्र' से तात्पर्य ईसा और परमेश्वर की बराबरी भी लिया जाता है। ईसा अपने आप को परमेश्वर से अभिन्न समझते थे। वास्तव में 'मानव पुत्र' शब्द दो विशेषताओं का संकेत करता है-- मरणशील मानव की स्थिति भी और परमेश्वर का ऐश्वर्य भी। ईसा मसीह दोनों माने जाते हैं- मानव और ईश्वर।

ईश्वर स्वरूप के सम्बन्ध में तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो शैव–सिद्धान्त और ईसाई धर्म की मान्यताओं में बहुत सी समानताएँ देखी जा सकती हैं। दोनों के ही अनुसार ईश्वर विश्वातीत तथा विश्वमय दोनों है। ईश्वर जगत् का स्त्रष्टा, पालनकर्ता तथा संहारकर्ता है। ईश्वर के अनुग्रहस्वरूप अथवा प्रेमस्वरूप पर आग्रह दोनों ही धर्मों में पाया जाता है। दोनों ही धर्मों के अनुसार ईश्वर सभी प्राणियों को प्रेम करता है तथा ऐसा करने में वह कोई भी किसी भी प्रकार का पक्षपात नहीं करता। ईश्वर पुण्यात्मा तथा पापात्मा दोनों को समान रूप से प्रेम करता है। दोनों ही धर्मों में ईश्वर को देश और काल से परे कहा गया है। दोनों ही धर्मों के अनुसार ईश्वर सर्वोच्च सत्ता है। दोनों ही धर्मों में ईश्वर को परम पवित्र कहा गया है। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, असीम तथा अनन्त है। ईश्वर समस्त जगत् का नियन्ता है।

---

१. प्रेरित चरित, २/३६.

२. दानिएल, ७/१३/१४.

अवतारवाद की अवधारणा को लेकर शैव–सिद्धान्त तथा ईसाई धर्म की मान्यताओं में अन्तर देखा जा सकता है। शैव–सिद्धान्त धर्म के अनुसार ईश्वर अवतार ग्रहण नहीं करता। ईश्वर कभी भी मानव शरीर के रूप में जन्म ग्रहण नहीं करता। ईश्वर कभी भी मायोत्पादित कोई भी रूप ग्रहण नहीं करता। शैव–सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर माया की मलिनता से कभी दूषित नहीं होता। ईश्वर आत्माओं को ज्ञानोपदेश करने के लिये कोई भी रूप ग्रहण कर सकता है। किन्तु वह रूप मायोत्पादित न होकर ईश्वर की शक्ति से निर्मित होता है। ईसाई धर्म में ईश्वर के अवतार की स्पष्ट अवधारणा नहीं प्राप्त होती है। ईसा मसीह को ईश्वर का पुत्र कहा गया है। ईसा के अनुयाई ईसा मसीह को ईश्वर ही मानते थे। उनका विश्वास था कि ईश्वर ही ईसा मसीह के रूप में प्रकट हुए थे।

५. आत्मा

शैव–सिद्धान्त धर्म में शरीर एवं आत्मा की पृथक् सत्ता मानी गई है। मानव आत्मा एवं शरीर का मिश्रित रूप है। आत्मा नित्य है किन्तु शरीर अनित्य है। आत्मा अनादि है किन्तु शरीर की उत्पत्ति होती है तथा इसका विनाश भी होता है। आत्मा शरीर में अन्तर्भूत रहता है तथा यह जब तक शरीर में उपस्थित रहता है तभी तक शरीर जीवित रहता है अथवा क्रियाशील रहता है। भारतीय परम्परा में आत्मा को ही मनुष्य का वास्तविक स्वरूप कहा गया है क्योंकि आत्मा ही नित्य एवं शाश्वत तत्त्व है, शरीर तो मरणधर्मा है तथा अपनी क्रियाशीलता एवं चेतना आदि के लिए आत्मा पर निर्भर रहता है। अतः आत्मा के स्वरूप अथवा अवस्थाओं को ही मानव का स्वरूप अथवा अवस्था माना जाता है। शैव–सिद्धान्त धर्म में आत्मा को नित्य एवं शाश्वत तत्त्व माना गया है। आत्मा की न तो उत्पत्ति होती है और न ही उसकी मृत्यु ही होती है। जन्म और मृत्यु शरीर का धर्म है। आत्मा अपने अस्तित्व के लिये किसी पर निर्भर नहीं होता। शैव–सिद्धान्त में तीन तत्त्व माने गये हैं–पति, पशु और पाश। इन्हें क्रमशः ईश्वर (शिव) आत्मा और माया कहा जाता है। शरीर माया का उत्पादन है। सृष्टिकाल में शरीर की उत्पत्ति माया से होती है। ऐसी मान्यता है कि अपने कर्मों के अनुसार आत्मा शरीर ग्रहण करते हैं। शैव–सिद्धान्त अनेकात्मवादी धर्म है। इसके अनुसार अनेक आत्माओं की सत्ता है। शैव–सिद्धान्त की यह मान्यता है कि आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में ईश्वर के समान ही सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ तथा विभु है। किन्तु आत्मा अनादि आणव मल से बद्ध है जिसके कारण उसकी स्वाभाविक शक्तियाँ सीमित हैं। आणव से बद्ध होकर आत्मा अणुरूप अथवा पशु रूप हो गया है। फलतः उसमें इच्छा,वासना आदि होने के कारण कर्म की प्रवृत्ति होती है। कर्म की प्रवृत्ति के कारण ही वह शरीर धारण करके कर्म करता है तथा कर्मफल के अनुसार सुख–दुख भोगता है। किन्तु यह मानव की नियति नहीं है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप की अभिव्यक्ति तथा शिव सायुज्य की प्राप्ति ही मानव का अन्तिम लक्ष्य है। शैव–सिद्धान्त के अनुसार मानव के वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण करने के लिये सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि शैव–सिद्धान्ती आत्मा की सत्ता किस प्रकार सिद्ध करते हैं। वे यह कैसे दिखाते हैं कि शरीर से पृथक् आत्मा की सत्ता है तथा आत्मा अनेक है एवं यह ईश्वर से भिन्न है। इसके पश्चात् आत्मा की अवस्थाओं का विश्लेषण करना आवश्यक है।

यह विश्लेषण आवश्यक है कि आत्मा किस प्रकार से बद्धावस्था एवं मुक्तावस्था में अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति करता है।

भारतीय दार्शनिक एवं धार्मिक परम्परा में चार्वाक एवं बौद्ध को छोड़ कर प्रायः सभी दर्शनों में आत्मा का अस्तित्व शरीर से पृथक् रूप में स्वीकार किया गया है। आत्मा के स्वरूप को लेकर मत वैभिन्न्य भले ही हो किन्तु आत्मा के अस्तित्व को स्वयं सिद्ध माना गया है। आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए विशेष प्रमाण की आवश्यकता भारतीय दार्शनिकों को नहीं होती। उनके अनुसार सभी प्रकार के प्रमाण आत्मा के अस्तित्व को मान लेते हैं। आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने की पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट की प्रणाली का दिग्दर्शन बहुत पहले ही उपनिषदों में हो जाता है, जहाँ कहा गया है कि आत्मा का निषेध भी (निषेधकर्ता के रूप में) आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

शैव–सिद्धान्त के अनुसार आत्मा का अस्तित्व तो तर्क द्वारा सिद्ध किया जा सकता है किन्तु आत्मा का स्वरूप–ज्ञान अथवा आत्म–ज्ञान उच्चतर ज्ञान प्राप्त करके ही हो सकता है। इस बात पर भी सभी भारतीय दार्शनिक सहमत हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट के समान भारतीय दार्शनिक परम्परा में यह माना गया है कि सत्य का साक्षात्कार अथवा वास्तविकता का ज्ञान सामान्य आनुभविकज्ञान अथवा इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हो सकता। किन्तु भारतीय दार्शनिक उच्चतर ज्ञान द्वारा आत्मा के वास्तविक स्वरूप अथवा सत्यता को जानने की सम्भावना को स्वीकार करते हैं। भारतीय दार्शनिक परम्परा में यह नहीं माना गया है कि आत्मा अज्ञेय है। यहाँ केवल सामान्य आनुभविक ज्ञान द्वारा आत्मा को अज्ञेय कहा गया है; उच्चतर ज्ञान द्वारा आत्मा ज्ञेय है अथवा उच्चतर ज्ञान प्राप्त कर आत्मानुभूति हो सकती है।

शैव–सिद्धान्ती भी यह मानते हैं कि आत्मा का वास्तविक ज्ञान उच्चतर ज्ञान द्वारा ही हो सकता है अथवा शिवज्ञान प्राप्त कर ही हो सकता है। शैव–सिद्धान्त की मान्यताओं के अनुसार आत्मा का वास्तविक स्वरूप अनादि आणव से आच्छादित है। अतः शिवज्ञान द्वारा इस आवरण को दूर कर अथवा प्रभावहीन करके ही वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। अतः शैव–सिद्धान्ती आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में कथन आगम प्रमाण के द्वारा करते हैं जो शिवज्ञान प्राप्त आत्माओं की अनुभूतियाँ हैं अथवा स्वयं शिव द्वारा प्रकाशित हैं। आत्मा के अस्तित्व को शैव–सिद्धान्तीतर्क द्वारा भी सिद्ध करते हैं तथा यह दिखाते हैं कि आत्मा शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण आदि तथा ईश्वर अथवा ब्रह्म से भी पृथक् है।

आत्मा की सत्ता सिद्ध करने के लिए तर्क प्रस्तुत करते हुए शैव–सिद्धान्ती कहते हैं कि 'यह आत्मा नहीं है' 'यह आत्मा नहीं है' अथवा 'मैं नहीं हूँ' इस प्रकार कह कर आत्मा का निषेध करने पर भी निषेधकर्ता के रूप में आत्मा का अस्तित्व है। इस तर्क द्वारा शैव–सिद्धान्ती शून्य वादी बौद्धों के मत की आलोचना करते हैं जिनके अनुसार सब कुछ शून्य है। यह आत्मा भी शून्य है अथवा शून्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है। शैव–सिद्धान्ती इसके उत्तर में कहते हैं कि इस प्रकार का कथन करने वाला शून्य नहीं हो सकता। आत्मा को शून्य कहने पर भी अथवा आत्मा के अस्तित्व का निषेध करने पर भी निषेधकर्ता का अस्तित्व सिद्ध है। यह निषेधकर्ता आत्मा है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि क्या निषेध की प्रक्रिया सर्वथा नास्तित्ववान वस्तु की सत्ता सिद्ध कर सकती है? यदि हम आत्मा का निषेध कर आत्मा का अस्तित्व सिद्ध कर सकते हैं तो क्या 'खरगोश की सींग' अथवा 'आकाश कुसुम' या 'बन्ध्या पुत्र' का अस्तित्व इनके निषेध द्वारा नहीं सिद्ध किया जा सकता? हम खरगोश की सींग आदि सर्वथा नास्तित्ववान वस्तुओं का निषेध करके भी उनके अस्तित्व को नहीं मानते। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि निषेध की प्रक्रिया इन सर्वथा नास्तित्ववान वस्तुओं के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकती तो इस प्रक्रिया द्वारा आत्मा के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता अथवा निषेध की प्रक्रिया को आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने का आधार नहीं बनाया जा सकता। यह कैसे माना जा सकता है कि निषेध की प्रक्रिया आत्मा के अस्तित्व को तो सिद्ध करती है किन्तु खरगोश के सींग अथवा आकाश कुसुम या बन्ध्या–पुत्र के अस्तित्व को सिद्ध नहीं करती? यदि निषेध की प्रक्रिया आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है तो इसे खरगोश की सींग आदि को भी सिद्ध करना चाहिए, क्योंकि हम जिस प्रकार 'यह आत्मा नहीं है, कहते हैं उसी प्रकार 'यह आकाश कुसुम नहीं है' अथवा 'यह बन्ध्या पुत्र नहीं है' कहते हैं।

इसके उत्तर में शैव–सिद्धान्ती कहेंगे कि सर्वथा नास्तित्ववान वस्तु के विषय में कोई कथन अथवा निषेधात्मक कथन भी नहीं हो सकता, अतः निषेध की प्रक्रिया सर्वथा नास्तित्ववान विषयों पर लागू नहीं होती। हम जब भी खरगोश की सींग का निषेध करते हैं तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि सर्वथा नास्तित्ववान वस्तु का कथन करते हैं, वरन् हम उस सींग के विषय में कथन करते हैं जो गाय के पास है किन्तु खरगोश के सन्दर्भ में उसका अस्तित्व नहीं है। आकाश कुसुम का निषेध कर हम यही कहते हैं कि कुसुम धरती पर है किन्तु आकश में नहीं है। बन्ध्यापुत्र

के निषेध में हम पुत्र मानते हैं किन्तु बन्ध्या स्त्री से उत्पन्न पुत्र के अस्तित्व को नहीं मानते। उसी प्रकार आत्मा का निषेध करने की प्रक्रिया में आत्मा का सर्वथा निषेध नहीं किया जाता वरन् शरीर, इन्द्रिय आदि को आत्मा माना जाता है तथा इसके अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व को नकारा जाता है। इस प्रक्रिया द्वारा शरीर, इन्द्रिय आदि को ही आत्मा मान लिया जाता है। किन्तु शैव-सिद्धान्ती पहले तर्क द्वारा आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के पश्चात् दूसरे तर्कों द्वारा यह सिद्ध करते हैं कि आत्मा शरीर, इन्द्रिय आदि से भिन्न सत्ता है। शरीर इन्द्रिय आदि आत्मा के साधन मात्र हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि दूसरे तर्कों द्वारा शैव-सिद्धान्ती यह सिद्ध करते हैं कि निषेध-कर्ता अथवा ज्ञाता शरीर या इन्द्रिय नहीं है वरन् आत्मा है जो इन इन्द्रियों से भिन्न है।

शरीर से पृथक् आत्मा की सत्ता सिद्ध करने के लिए तर्क प्रस्तुत करते हुए शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि 'मेरा शरीर', 'मेरा हाथ', 'यह मेरा पैर है', 'यह मेरा घर है' आदि कथनों से शरीर, हाथ, पैर, घर आदि से भिन्न किसी सत्ता का संकेत होता है। वह सत्ता आत्मा है। 'शरीर मेरा है' इस कथन में यह अर्थ निहित है कि मै स्वयं शरीर नहीं हूँ। शरीर को ही आत्मा कहने वाले चार्वाकों की आलोचना करते हुए शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि व्यक्ति जब अपनी स्त्री, घर देश आदि के विषय में बात करता है तो उसे स्त्री, घर, देश आदि से भिन्न अपने अस्तित्व का बोध रहता है। उसी प्रकार व्यक्ति जब अपने शरीर, हाथ, पैर आदि के विषय में बात करता है तो शरीर, हाथ, पैर आदि से पृथक् उसके अस्तित्व का संकेत मिलता है। कहने का तात्पर्य यह कि इस प्रकार शरीर, हाथ, पैर आदि से पृथक् आत्मा की सत्ता सिद्ध है।

यहाँ चार्वाक इस तर्क के विरोध में यह कह सकता है कि 'मेरा हाथ' 'मेरा शरीर' आदि बातें करते समय आत्मा का संकेत नहीं होता वरन् शरीर का ही संकेत होता है अथवा दूसरे शब्दों में शरीर ही कहता है कि 'मेरा हाथ' 'मेरा शरीर' अथवा 'मैं पतला हूँ', 'मैं मोटा हूँ' आदि न कि आत्मा। इस प्रकार कहने की प्रक्रिया अथवा इस प्रकार ज्ञान की प्रक्रिया शरीर के कारण है न कि आत्मा के कारण। इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि ज्ञान की प्रक्रिया शरीर के कारण है न कि आत्मा के कारण तो मृत्यु के उपरान्त भी यह प्रक्रिया होनी चाहिए क्योंकि शरीर तो विद्यमान रहता ही है। किन्तु हम जानते हैं कि मृत्यु के उपरान्त शरीर के रहते हुए भी ज्ञान की कोई प्रक्रिया नहीं होती। अतः ज्ञान की प्रक्रिया आत्मा के कारण है न कि शरीर के कारण।

ज्ञानेन्द्रियों से पृथक् आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि ज्ञानेन्द्रियों के विभिन्न विषयों की अनुभूति पृथक् रूप से होती है। यह केवल आत्मा ही कर सकता है। ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान तो हो सकता है किन्तु इच्छा और संकल्प की व्याख्या इन्द्रियों से नहीं किया जा सकता। ज्ञानेन्द्रियाँ इच्छा अथवा संकल्प नहीं कर सकती। अतः ज्ञानेन्द्रियों से पृथक् आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है। ज्ञानेन्द्रियों के समूह को भी आत्मा नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसी स्थिति में सभी ज्ञानेन्द्रियाँ एक साथ अपने--अपने विषयों का प्रत्यक्ष करेंगी तथा उनमें से किसी एक विषय का स्पष्ट प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं होगा। ज्ञानेन्द्रियों में से प्रत्येक को अलग-अलग आत्मा नहीं माना जा सकता। प्रत्येक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय का प्रत्यक्ष नहीं कर सकती। यथा नेत्र द्वारा देखा जा सकता है किन्तु सुना नहीं जा सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि केवल नेत्र को ही आत्मा माना जाय तो अन्य सभी विषयों का ज्ञान असम्भव होगा अथवा तब सुनने या स्पर्श आदि की क्रियायें नहीं होगी। इसी प्रकार केवल कान अथवा केवल नाक या केवल स्पर्श ज्ञानेन्द्रिय को आत्मा नहीं माना जा सकता। ज्ञानेन्द्रियों को इसलिए भी आत्मा नहीं माना जा सकता कि ज्ञानेन्द्रियाँ प्रत्यक्ष तो कर सकती हैं किन्तु इसे व्यक्त नहीं कर सकती। यथा आँख देख सकती है किन्तु यह नहीं कह सकती कि 'मैं देखती हूँ'। ज्ञानेन्द्रियों को आत्मा न मानने का कारण बताते हुए शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि स्वप्नावस्था में ज्ञानेन्द्रियों के निष्क्रिय अथवा शिथिल रहते हुए भी अनुभूति होती है। अतः स्वप्नावस्था की अनुभूति से भी यह सिद्ध है कि ज्ञानेन्द्रियों से इतर आत्मा का अस्तित्व है।इन तर्कों द्वारा शैव-सिद्धान्ती यह दिखाते हैं कि आत्मा ही ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से उनके पृथक्-पृथक् विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि आत्मा ही ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करता है तो क्यों नहीं वह एक ही समय में अथवा एक ही साथ ज्ञानेन्द्रियों के सभी विषयों को प्रत्यक्ष कर लेता? इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि अनादि आणव से ग्रस्त होने के कारण आत्मा की स्वाभाविक शक्तियाँ सीमित हैं। इसलिए आत्मा सभी विषयों का प्रत्यक्ष एक ही साथ नहीं करता। आणव से मुक्त होने पर आत्मा सभी विषयों का प्रत्यक्ष एक ही साथ कर सकता है।

शैव-सिद्धान्ती सूक्ष्म देह से पृथक् आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए कहते हैं कि स्वप्नावस्था और जाग्रतावस्था की अनुभूतियों में असमानता सूक्ष्मदेह से अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है। इस तर्क द्वारा शैव-सिद्धान्ती दार्शनिक सूक्ष्मदेहात्मवादियों के मत की आलोचना करते हैं जो सूक्ष्म देह को ही

आत्मा कहते हैं। सूक्ष्मदेहात्मवादियों के अनुसार नींद में ज्ञानेन्द्रियों के शिथिल होने पर सूक्ष्मदेह स्वप्न की अनुभूतियों को प्राप्त करता है न कि आत्मा। इसके उत्तर में शैव–सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि स्वप्नावस्था में अनुभव करने वाला सूक्ष्मदेह है तो जाग्रतावस्था में भी वे अनुभूतियाँ वैसी ही होनी चाहिए जैसा हम स्वप्न में अनुभव करते हैं क्योंकि जाग्रतावस्था में भी सूक्ष्मदेह ही उन अनुभूतियों को याद करेगा। किन्तु जब जाग्रतावस्था में हम स्वप्न की अनुभूतियों को याद करते हैं तो हमें हल्की और धुँधली स्मृति ही होती है। यदि वास्तविक ज्ञाता सूक्ष्मदेह है तो दोनों अनुभूतियों में असमानता नहीं होनी चाहिए। किन्तु दोनों अनुभूतियों में हम अन्तर पाते हैं, अतः वास्तविक ज्ञाता या अनुभवकर्ता सूक्ष्मदेह नहीं है वरन् आत्मा है। इसके अतिरिक्त शैव–सिद्धान्ती कहते हैं कि सूक्ष्मदेह जड़ और अचेतन तत्त्वों अथवा इन्द्रियों से निर्मित है। अचेतन और जड़ पदार्थ में ज्ञान की क्रिया आरोपित नहीं की जा सकती। केवल चेतन ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अतः सूक्ष्मदेह से इतर चेतन आत्मा की सत्ता है।

प्राणवायु से पृथक् आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए शैव–सिद्धान्ती कहते हैं कि गहरी नींद में प्राणवायु के क्रियाशील रहते हुए भी कोई अनुभूति अथवा शारीरिक क्रिया नहीं होती अतः प्राणवायु से इतर आत्मा की सत्ता है। प्राणात्मवादियों के अनुसार चूँकि प्राणवायु जाग्रत, स्वप्न आदि सभी अवस्थाओं में रहता है, अतः प्राणवायु ही आत्मा है। सुख, दुःख आदि अनुभूतियाँ अथवा ज्ञान की प्रक्रिया तभी तक रहती हैं जब तक प्राणवायु क्रियाशील है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवित अवस्था में ही अनुभूतियाँ होती हैं तथा जीवित अवस्था तभी तक है जब तक प्राणवायु क्रियाशील है। अतः चूँकि ज्ञान की प्रक्रिया प्राणवायु की क्रियाशीलता पर ही निर्भर है इसलिए प्राणवायु ही आत्मा है। शैव–सिद्धान्ती इस मत की आलोचना में कहते हैं कि यद्यपि ज्ञान की प्रक्रिया के समय प्राणवायु क्रियाशील है किन्तु कुछ ऐसी अवस्थायें भी हैं जहाँ प्राणवायु के क्रियाशील रहने पर भी ज्ञान की प्रक्रिया अथवा अनुभूति नहीं होती। गहरी नींद में प्राणवायु क्रियाशील रहता है किन्तु उस अवस्था में ज्ञान की कोई प्रक्रिया नहीं होती। यदि ज्ञान की प्रक्रिया का मूल कारण प्राणवायु है अथवा प्राणवायु ही आत्मा है तो गहरी नींद में भी अनुभूति होनी चाहिए। किन्तु गहरी नींद में अनुभूति नहीं होती। अतः प्राणवायु आत्मा नहीं है।

इसके अतिरिक्त शैव–सिद्धान्ती अन्तःकरणात्मवादियों के मतों की आलोचना करते हैं जिनके अनुसार मनस, बुद्धि, अहंकार आदि आत्मा हैं। शैव–सिद्धान्ती

कहते हैं कि यदि प्रत्येक अन्तःकरण को अलग–अलग आत्मा माना जाय तो किसी एक विषय की स्पष्ट अनुभूति सम्भव नहीं होगी। यदि सभी अन्तःकरण के समूह को आत्मा माना जाय तो भी किसी विषय की स्पष्ट अनुभूति सम्भव नहीं होगी। यदि सभी अन्तःकरण के समूह को आत्मा माना जाय तो भी किसी विषय की स्पष्ट अनुभूति नहीं होगी क्योंकि प्रत्येक अन्तःकरण एक दूसरे से सहयोग नहीं करेगा अथवा सभी अन्तःकरण एक साथ ही अनुभूति करेंगे और उसमें से एक अनुभूति को अलग करना सम्भव नहीं होगा। शैव–सिद्धान्ती अन्तःकरण को मायीय तत्त्वों से निर्मित मानते हैं। अतः मायीय तत्त्वों से निर्मित होने के कारण ये अचेतन हैं। अचेतन अन्तःकरण स्वतन्त्रतापूर्वक अनुभूति प्राप्त नहीं कर सकते। आत्मा ही इन अन्तःकरणों को साधन रूप में प्रयोग कर अनुभूति करता है। ये अन्तःकरण आत्मा से आणवमल के प्रभाव के कारण इस प्रकार सम्बन्धित हैं कि ये ही आत्मा प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं कह सकती कि 'मैं देखती हूँ' या 'मैं सुनती हूँ' उसी प्रकार अन्तःकरण भी नहीं कह सकते कि 'मैं जानता हूँ' या 'मैं अनुभव करता हूँ'। वास्तव में यह कथन केवल आत्मा ही कर सकता है। बौद्ध तत्त्वों के समूह अथवा स्कन्धों के समूह को आत्मा कहते हैं। उनके अनुसार ज्ञान की प्रक्रिया इन सभी तत्त्वों के सक्रिय होने के परिणामस्वरूप होती है। शैव–सिद्धान्ती तत्त्वों को मायीय होने से अचेतन मानते हैं। अतः तत्त्वों का स्कन्ध भी बिना चेतन आत्मा की अपेक्षा किये ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

ईश्वर से पृथक आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए शैव–सिद्धान्ती कहते हैं कि आत्मा का अपूर्ण ज्ञान यह संकेत करता है कि आत्मा ईश्वर से भिन्न है। इस तर्क द्वारा शैव–सिद्धान्ती उन दार्शनिक मतों की आलोचना करते हैं जो आत्मा को ही ईश्वर मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा का ज्ञान अपूर्ण है क्योंकि आत्मा जो ज्ञान प्राप्त करता है उसे भूल भी जाता है। श्रुतियों में ईश्वर के पूर्ण ज्ञान अथवा सर्वज्ञ होने की बात कही गई है। अतः आत्मा ईश्वर नहीं है। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि शैव–सिद्धान्ती अनेक आत्माओं के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। यहाँ कहा जा सकता है कि जब वेद में एक ही आत्मा के अस्तित्व की बात कही गई है तो शैव–सिद्धान्ती किस प्रकार अनेक आत्माओं के अस्तित्व की बात करते हैं? इसके उत्तर में शैव–सिद्धान्ती कहते हैं कि वेदों में आत्माओं के स्वामी को एक होने की बात कही गई है न कि आत्मा को ही एक होने की बात कही गई है। आत्मा की अनेकता को सिद्ध करने के लिए शैव–सिद्धान्ती कहते हैं कि हम प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा आत्माओं की अनेकता को जानते हैं। प्रत्येक व्यक्ति 'मैं हूँ' इस प्रकार अलग–अलग

अपने अस्तित्व का बोध करता है तथा अलग-अलग व्यक्तियों के जन्म और मृत्यु से भी आत्माओं की अनेकता सिद्ध है।

शैव-सिद्धान्ती आत्मा की अनेकता को सिद्ध करने के लिए तर्क देते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा, संकल्प तथा क्रियायें व अनुभूतियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। यदि आत्मा एक है तो यह कैसे सम्भव है कि कोई व्यक्ति सुखी रहता है तो दूसरा उसी क्षण दुखी रहता है तथा कोई व्यक्ति यात्रा करता है तो दूसरा उसी समय विश्राम करता है। एक ही आत्मा इतने विभिन्न क्रियाओं को एक ही समय में कैसे सम्पादित कर सकता है? अतः आत्मा की अनेकता सिद्ध है।

तर्क द्वारा आत्मा की सत्ता सिद्ध करने के पश्चात् शैव-सिद्धान्ती आत्मा के स्वरूप का विवेचन करते हैं। शैव-सिद्धान्त के अनुसार आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में शिव के समान ही सत्, चित्, आनन्दरूप है। शिव के समान ही सर्वज्ञ, शक्तिमान तथा व्यापी है। वह शिव के समान ही इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान शक्तियों से युक्त है। किन्तु अनादि काल से आणव मल के आवरण से आच्छादित होने के कारण उसकी शक्तियाँ सीमित हैं। इसलिए बद्धावस्था में आत्मा शिव के समान सत्, चित्, तथा आनन्दरूप नहीं है। इस आवरण को दूर करने के लिए ही आत्मा को जन्म ग्रहण करना पड़ता है। तत्त्व की दृष्टि से आत्मा शिव के समान ही चित् रूप है, किन्तु अवस्था की दृष्टि से शिव और आत्मा में पर्याप्त विभेद है। शिव शुद्ध तथा नित्य मुक्त सत्ता है। शिव जन्म-मृत्यु अथवा बन्धन और मोक्ष का विषय नहीं है। शिव पूर्ण सत्ता है। शिव की शक्तियाँ अपने पूर्ण रूप में प्रकाशित हैं। आत्मा अनादि काल से बन्धनग्रस्त है। फलतः आत्मा बन्धन और मोक्ष का विषय है। आत्मा आणव मल के प्रभाव के कारण अपूर्ण है। आत्मा की शक्तियाँ सीमित हैं। आत्मा अपने शक्तियों के प्रकाशन के लिए शिव पर आश्रित है। शिव को ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती, किन्तु आत्मा जब तक बन्धन में है, बिना साधनों की सहायता के ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। आणव के प्रभाव से शक्तियाँ सीमित हो जाने के कारण आत्मा स्वयं को असहाय पाता है। ऐसी अवस्था में आत्मा बन्धन से मुक्ति पाने के लिए प्रयास भी नहीं कर पाता। शिव आत्मा पर अनुग्रह करता है। आत्मा को मुक्त कराने के लिए शिव सृष्टि आदि क्रियाएँ करता है। शिव से अनुग्रह प्राप्त करते ही आत्मा बन्धन से मुक्ति पाने का प्रयास करता है। फलतः आत्मा शिव पर आश्रित है।

शैव-सिद्धान्ती आगम प्रमाण के आधार पर आत्मा के स्वरूप का विवेचन करते हैं। उनके अनुसार आत्मा अपने वास्तविक रूप में शिव

के समान ही है, किन्तु अनादि आणव के आवरण के कारण आत्मा में पशुत्व आ गया है। इस पशुत्व के दूर हो जाने पर आत्मा पुनः अपने वास्तविक रूप में प्रकाशित हो जाता है। इस पशुत्व से मुक्ति पाने के क्रम में आत्मा विभिन्न अवस्थाओं को धारण करता है। अपने वास्तविक रूप में आत्मा सत् रूप है किन्तु इन अवस्थाओं के कारण आत्मा सत्, असत्, सदसत् भी कहा जाता है। ये अवस्थायें आत्मा की बद्धावस्था से मुक्ति की ओर अग्रसर होने की अवस्थायें हैं। बन्धन से मुक्ति की ओर अग्रसर होने में आत्मा की तीन अवस्थायें शैव-सिद्धान्ती मानते हैं-- केवलावस्था, सकलावस्था और शुद्धावस्था।

प्रलय काल में शरीर आदि से रहित आत्मा की अवस्था केवलावस्था कहलाती है। इस अवस्था में आत्मा राग, विद्या, कला, नियति, काल जैसे पञ्चकञ्चुकों से रहित होता है। केवलावस्था में आत्मा को जगत् की कोई अनुभूति नहीं रहती। यह आत्मा के निष्क्रियता की अवस्था है। अपने वास्तविक स्वरूप में सर्वज्ञ, क्रियाशील होते हुए भी आणव मल के प्रभाव के कारण आत्मा न तो कुछ कर सकता है और न ही कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस अवस्था में आत्मा अत्यन्त ही असहाय होता है। यह अवस्था आणवमल के पूर्ण प्रभाव की अवस्था है। इस अवस्था में आत्मा की इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ सीमित हो गई रहती हैं। किसी प्रकार का कर्तृत्व, स्वातन्त्र्य तथा भोग की इच्छा का भी आत्मा में सर्वथा अभाव इस अवस्था में रहता है। इस प्रकार सभी शक्तियों- इच्छा, ज्ञान, क्रिया से तथा कर्तृत्व से रहित होने के कारण यह आत्मा की केवलावस्था है क्योंकि इस अवस्था में आत्मा का केवल अस्तित्व ही रहता है।

अनादि आणव से मुक्ति दिलाने के लिए शिव आत्मा पर अनुग्रह करके सृष्टि द्वारा उन्हें शरीर, इन्द्रिय आदि साधन प्रदान करता है। इन साधनों से युक्त हो जाने की अवस्था आत्मा की सकलावस्था है। यह आत्मा की कार्यावस्था है। इस अवस्था में यद्यपि आत्मा की शक्तियाँ सीमित ही रहती हैं, किन्तु आत्मा उनका प्रयोग करने लगता है। इन सीमित शक्तियों के माध्यम से आत्मा मुक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयास करता है। केवलावस्था में आत्मा कर्म नहीं कर सकता क्योंकि इस अवस्था में कर्म करने के सभी आवश्यक साधन यथा शरीर, इन्द्रिय आदि का सर्वथा अभाव रहता है। सकलावस्था में आत्मा इन साधनों से युक्त हो जाता है। कर्मेन्द्रियों की सहायता से वह विभिन्न शारीरिक क्रियाएँ सम्पादित करता है। ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से आत्मा विभिन्न विषयों का प्रत्यक्ष करता है। अन्तःकरणों की सहायता से आत्मा

संकल्प, इच्छा, संशय आदि क्रियाओं को सम्पादित करता है। शिव प्रकाशम् में कहा गया है कि जिस प्रकार दीपक तेल आदि आवश्यक वस्तुओं के वर्तमान रहने पर अपना कार्य करता है, वैसे ही आत्मा शरीर आदि आवश्यक साधनों से युक्त हो जाने पर कर्म करने लगता है।

सकलावस्था में आत्मा कर्म द्वारा सुख-दुःख की अनुभूति करता हुआ अपने को मुक्ति पाने के लायक बनाता है। शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि जिस प्रकार सोने को अपने वास्तविक रूप में आने के लिए अग्नि में तपना पड़ता है, वैसे ही आत्मा को अपने शुद्धावस्था में आने के लिए सुख-दुःख के कष्टपूर्ण अनुभूतियों से होकर स्वयं को आणव से मुक्त करना पड़ता है। इस प्रक्रिया को पूरा करने के लिए शरीर ग्रहण करना आवश्यक है। चित् स्वरूप अथवा ज्ञानस्वरूप होते हुए भी आत्मा अपनी इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्तियों को व्यक्त नहीं कर पाता अथवा इनका उपयोग नहीं कर पाता। इन शक्तियों के उपयोग के लिए आत्मा को शरीर से युक्त होना आवश्यक है। आत्मा की सकलावस्था को शैव-सिद्धान्ती 'सदसत्' की अवस्था कहते हैं। उनके अनुसार इस अवस्था में आत्मा सत् और असत् दोनों होता है, अथवा दूसरे शब्दों में, इस अवस्था में आत्मा के पास सत् के भी गुण होते हैं तथा असत् के भी गुण होते हैं। सकलावस्था में आत्मा माया के तत्त्वों के सम्पर्क में आता है। मायोत्पादित शरीर आदि साधनों द्वारा ही आत्मा कर्म करता है। फलतः माया अथवा माया के तत्त्वों का आत्मा पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से आत्मा को असत् कहा जाता है। कर्मों के अनुभव द्वारा आत्मा शिव का अनुग्रह भी प्राप्त करता है अथवा दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि आत्मा शिव के प्रभाव में भी आने लगता है। इस दृष्टि से आत्मा सत् कहा जाता है। इस प्रकार सकलावस्था में आत्मा शिव और माया, चित् और अचित् दोनों ही तत्त्वों से प्रभावित होने के कारण सदसत् कहा जाता है।

सकलावस्था आध्यात्मिक क्षेत्र से आत्मा के उत्तरोत्तर उत्कर्ष की अवस्था है। आत्मा जागतिक अनुभवों द्वारा जगत् की सत्यता को जानने का प्रयास करता है। अपने अनुभवों द्वारा आत्मा यह पाता है कि जागतिक पदार्थ उसे सन्तुष्ट नहीं कर पाते। फलतः आत्मा शिव की ओर अभिमुख होता है। जगत् को जगत् के रूप में देख लेने पर आत्मा को यह ज्ञान हो जाता है कि जगत् उसके लिए साधन मात्र है। जगत् ही उसके लिए अभीष्ट नहीं है। जगत् अपनी मुक्ति के लिए ईश्वर के अनुग्रह की अपेक्षा करता है। फलतः वह स्वयं को अनुग्रह प्राप्त करने के लायक बनाता है। इस प्रकार शुद्धावस्था में प्रवेश करने की तैयारी आत्मा सकलावस्था में ही करने

लगता है। केवलावस्था में आत्मा आणवमल के प्रभाव में रहता है किन्तु सकलावस्था में आत्मा माया और कर्म मल से भी युक्त हो जाता है। शैव सिद्धान्ती यह मानते हैं कि जिस प्रकार कपड़े की गन्दगी साफ करने के लिए साबुन इत्यादि अन्य गन्दगियों का प्रयोग किया जाता है, वैसे ही आत्मा के आणव मल को दूर करने के लिए माया और कर्म मल आवश्यक हैं। माया मल से युक्त होकर आत्मा माया से निर्मित जगत् का ज्ञान प्राप्त करता है। यह आत्मा के पाश ज्ञान की अवस्था है। पाश ज्ञान के स्तर पर आत्मा को असत् कहा जाता है। पाश ज्ञान के पश्चात् आत्मा स्वयं को जानने का प्रयास करता है। जागतिक अनुभवों से असन्तुष्ट आत्मा आध्यात्मिक ज्ञान की ओर अग्रसर होता है। यह पशु ज्ञान का स्तर है। इस स्तर पर आत्मा सदसत् कहा जाता है।

शिवज्ञान प्राप्ति की अवस्था आत्मा की शुद्धावस्था है। सकलावस्था में प्राप्त अनुभवों के आधार पर आत्मा यह समझ जाता है कि जागतिक पदार्थ उसके लिए साधन मात्र ही हैं। आत्मा को अपने लक्ष्य का ज्ञान सकलावस्था में हो जाता है। आत्मा यह जान लेता है कि उसका लक्ष्य जागतिक भोग नहीं है अपितु शिव है। शिव का सामीप्य प्राप्त करके ही आणव मल के प्रभाव से सर्वथा मुक्ति प्राप्त हो सकती है। फलतः शिव ज्ञान प्राप्त करने के लिए आत्मा ज्ञान मार्ग का अनुसरण करता है। शिव निर्गुण, निराकार होने से तथा सभी तत्त्वों से परे होने के कारण किसी साधन द्वारा ज्ञात नहीं हो सकता। शिव शिवज्ञान द्वारा ही ज्ञात हो सकता है जो आत्मा को अनुग्रह रूप में प्राप्त होता है। इस अवस्था में आत्मा आणव, माया तथा कर्म मल से मुक्त हो जाता है। सभी मलों से रहित आत्मा अपने शुद्ध रूप में होता है। इसीलिए इस अवस्था में आत्मा को सत् कहा जाता है।

ईसाई धर्म के अनुसार आत्मा अनादि अथवा नित्य नहीं है। आत्मा भी एक सृष्ट तत्त्व है। ईश्वर ने आत्मा को भी जगत् आदि की तरह बनाया अथवा सृष्ट किया। आत्मा सम्बन्धी जैसी अवधारणा भारतीय परम्परा में अथवा शैव–सिद्धान्त में मिलती है वैसी ईसाई धर्म में नहीं मिलती। ईसाई धर्म के अनुसार आत्मा और शरीर पृथक् पृथक् अवयव नहीं हैं बल्कि एक ही जीवात्मा के भिन्न–भिन्न पक्ष अथवा अवस्थितियाँ हैं। ईश्वर ने मानव को अपने सदृश बनाया। बाइबिल में प्राप्त उद्धरण के अनुसार, 'ईश्वर ने कहा ; हम मनुष्य को अपने सदृश बनाएं।'[१] ईश्वर के सदृश मानव को बनाए जाने की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की जाती है। कहा जाता है कि मानव की ईश्वर से अनुरूपता है क्योंकि मानव को सृष्टिकर्ता की ओर से सब जीव–जन्तुओं

१. उत्पत्ति ग्रन्थ, १/२६.

पर अधिकार मिला हुआ है।[१] दूसरी प्रकार की व्याख्या के अनुसार मानव की ईश्वर से अनुरूपता है क्योंकि मानव में ईश्वर की सृष्टिक्षमता के समान क्षमता है। बाइबिल में प्राप्त उद्धरण के अनुसार 'ईश्वर ने मनुष्य को अपने सदृश बनाया, उसने नर और नारी के रूप में उनकी सृष्टि की।'[२] तीसरी प्रकार की व्याख्या के अनुसार मानव अमर है। बाइबिल में प्राप्त वर्णन के अनुसार, 'ईश्वर ने मनुष्य को अनश्वर बनाया है, उसने उसको अपना प्रतिरूप ही बनाया है।[३] ईसाई धर्म में मानव को ईश्वर के प्रतिरूप अथवा सदृश तो कहा गया किन्तु मानव और ईश्वर में तादात्म्य नहीं माना गया। अमर होते हुए भी मानव अपने आप को ईश्वर नहीं मान सकता है।

ईसाई धर्म में आत्मा और शरीर का स्पष्ट भेद प्रतिपादित नहीं किया गया है। ओल्ड टेस्टामेन्ट में जीवात्मा के लिए नेफेश शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसे 'रूअह' समझा जाता है। 'रूअह' आत्मा के रूप में अनूदित नहीं किया जा सकता। ईसाई धर्म के अनुसार जीवात्मा जिस शरीर को अनुप्राणित करता है उसके साथ अवियोज्य सम्बन्ध में रहता है। इस प्रकार जीवात्मा को भौतिक शरीर मात्र न मानकर उसे आत्मिक स्वरूप में स्वीकार करना बाइबिल के अनुरूप अवधारणा नहीं मानी जा सकती। बाइबिल की मानव–अवधारणा एकात्मक है जिसके अनुसार आत्मा और शरीर मानव के अस्तित्व के दो अपरिहार्य अवस्थितियाँ हैं। मनुष्य की उत्पत्ति के विषय में बाइबिल में प्राप्त वर्णन के अनुसार, 'प्रभु ने धरती की मिट्टी से मनुष्य को गढ़ा और उसके नथुनों में प्राणवायु फूंक दी।[४] ईश्वर ने अन्य प्राणियों अर्थात् जानवरों आदि की भी रचना की किन्तु मनुष्य को ईसाई धर्म में ईश्वर की विशेष रचना माना जाता है। इसके अनुसार दूसरे प्राणियों की अपेक्षा मानव ईश्वर से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। उसका प्राण परमेश्वर का विशेष दान है। परमेश्वर से सम्बन्धित होते हुए भी मानव उसके अधीन है। ईसाई धर्म के अनुसार जीवन का स्रोत ईश्वर है, मानव स्वयं नहीं।

ईसाई धर्म की मान्यताओं के अनुसार जीवात्मा को शरीर से भिन्न नहीं माना गया है। जीवात्मा अथवा मानव को अनश्वर अथवा अमर कहा गया है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जीवात्मा इसलिए अमर है क्योंकि वह शरीर से पृथक् आत्मा

---

१. उत्पत्ति ग्रन्थ, पद २६/२८.

२. उत्पत्ति ग्रन्थ, पर २७.

३. प्रज्ञा ग्रन्थ, २/२३.

४. उत्पत्ति ग्रन्थ, २.७.

रूप अथवा आत्मिक है। जीवात्मा न तो आत्मिक है और न ही शरीर से भिन्न कोई अवयव है। ईसाई मानते हैं कि ईश्वर ने मनुष्य को अनश्वर बनाया है, उसकी जीवात्मा मात्र को नहीं। वास्तव में अपने स्वभाव से मानव मरणशील ही है। मानव में शरीरात्म एकता के फलस्वरूप शरीर के साथ जीवात्मा का भी मर जाना अनिवार्य है। बाइबिल् के ओल्डटेस्टामेन्ट के प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे ही विचारों का प्रतिपादन मिलता है किन्तु ओल्डटेस्टामेन्ट के प्रज्ञा ग्रन्थ में, जो कि अर्वाचीन ग्रन्थ माना जाता है, तथा न्यू टेस्टामेन्ट में मानव को अनश्वर एवं अमर मानने के विचारों का प्रतिपादन किया गया मिलता है।

मानव के स्वरूप में जीवात्मा के अतिरिक्त दूसरा पक्ष उसका भौतिक शरीर है। ईसाई धर्म के अनुसार शरीर में न केवल स्थूल पदार्थ अपितु मनोवैज्ञानिक क्षमता और क्रियाएँ भी सन्निहित हैं। शरीर के कारण ही मनुष्य सुख–दुःख, राग–द्वेष आदि का अनुभव करता है। जीवात्मा और शरीर इन दो पक्षों से मनुष्य का द्वयर्थक स्वभाव स्पष्ट किया जाता है। शरीर की दृष्टि से मनुष्य जगत् से सम्बन्ध रखता है। जीवात्मा की दृष्टि से मनुष्य परलोक से सम्बन्ध रखता है। ईसाई धर्म में जीवात्मा एवं शरीर को परस्पर–विरोधी जैसा नहीं माना गया है। इसका द्वैतवादी अर्थ नहीं है। मानव सृष्टि के पश्चात् कहा गया है कि 'यह उसको (परमेश्वर को) बहुत अच्छा लगा'।[१]

आत्मा की अवधारणा को लेकर शैव–सिद्धान्त तथा ईसाई धर्म में कुछ मौलिक बातों को लेकर जहाँ अन्तर है, वहीं कुछ अन्य बातों को लेकर समानता देखी जा सकती है। जहाँ शैव–सिद्धान्त आत्मा को नित्य तथा शाश्वत मानता है, वहाँ ईसाई धर्म आत्मा को ईश्वर द्वारा सृष्ट मानता है। शैव–सिद्धान्त के अनुसार आत्मा और शरीर की पृथक् सत्ता है जिसमें आत्मा नित्य, अनादि, अमर तथा शाश्वत है जबकि शरीर मरणधर्मा है। शरीर की उत्पत्ति होती है तथा इसकी मृत्यु भी होती है। ईसाई धर्म के अनुसार आत्मा एवं शरीर पृथक्–पृथक् नहीं हैं। शरीर आत्मा का आवश्यक भाग है। मृत्यु के समय शरीर आत्मा से पृथक् हो जाता है किन्तु पुनरुत्थान के समय वह आत्मा को प्राप्त हो जाता है। ऐसी ईसाई धर्म की मान्यता है। इन मूलभूत बातों को छोड़कर अन्य बातों में समानता देखने का प्रयास किया जा सकता है। जिस प्रकार शैव–सिद्धान्त आत्मा की बद्धावस्था तथा मुक्तावस्था मानता है उसी प्रकार के विचार ईसाई धर्म में भी देखे जा सकते हैं। शैव–सिद्धान्त के अनुसार आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में पूर्ण है किन्तु अनादि आणव मल

---

१. उत्पत्ति ग्रन्थ, १/२११; १/३१.

के आवरण के कारण वह बन्धन में है, यह आत्मा की बद्धावस्था है। आत्मा आध्यात्मिक साधना तथा ईश्वर की कृपा से मुक्ति प्राप्त करके पुनः अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यह आत्मा की मुक्तावस्था है। ईसाई धर्म के अनुसार आत्मा अपने मूल रूप में अथवा आदिम रूप में पूर्ण है किन्तु 'आदि पाप' के कारण संसार में आ पड़ा है। यह उसकी बद्धावस्था है। ईसाई धर्म में बताये गये आचरण तथा साधनादि करने के पश्चात् ईश्वर के अनुग्रह से आत्मा मुक्ति प्राप्त कर के अपने पूर्ण रूप अथवा आदिम रूप एवं आदिम अवस्था को प्राप्त कर लेता है। वह ईश्वर के सानिध्य में स्वर्ग में निवास करने लगता है। यह आत्मा की मुक्तावस्था है। आत्मा अपनी बद्धावस्था में सुख–दुःख की अनुभूति अपने कर्मों के अनुसार करता है किन्तु मुक्तावस्था में उसे कोई दुःख नहीं होता। वह आनन्द अथवा ईश्वरानन्द का अनुभव करता है। यह बात दोनों ही धर्मों में मानी जाती है। इसी प्रकार अन्य बातों को लेकर भी शैव–सिद्धान्त तथा ईसाई धर्म में समानता देखी जा सकती है।

६. ईश्वर और आत्मा (मानव)

शैव–सिद्धान्त धर्म के अनुसार ईश्वर और आत्मा सत्ता की दृष्टि से भिन्न–भिन्न तत्त्व हैं। दोनों नित्य तथा शाश्वत तत्त्व हैं। आत्मा भी एक नहीं अपितु अनेक हैं। सत्ता की दृष्टि से आत्मा स्वतन्त्र रूप से अस्तित्ववान तत्त्व है किन्तु अन्य कार्यों के लिए वह शिव पर आश्रित है। जहाँ शिव शुद्ध है, आत्मा मल से युक्त है। शैव–सिद्धान्त आत्मा और शिव में एक भावात्मक सम्बन्ध की परिकल्पना करता है। यह सम्बन्ध अभेद का नहीं हो सकता जैसा स्वर्ण और इससे निर्मित गहने में है, क्योंकि शिव और आत्मा में सत्तामूलक द्वैत है। शिव और आत्मा में अन्धकार और प्रकाश जैसा भेद भी नहीं माना जा सकता क्योंकि तब कोई सम्बन्ध ही सम्भाव्य नहीं होगा। इसलिए शैव–सिद्धान्त शिव और आत्मा में भेद तो मानता है परन्तु सार में एक अभेद सम्बन्ध की भी कल्पना करता है। इसे भेदाभेद सम्बन्ध कहा जा सकता है। शैव–सिद्धान्त आत्मा और शिव के बीच इस प्रकार के सम्बन्ध की स्थापना के लिए व्याप्ति का आधार लेता है। इसके अनुसार शिव आत्माओं को व्याप्त कर उनके सम्बन्ध में है। शैव–सिद्धान्त कहता है कि वे व्याप्ति और चेतना की दृष्टि से अभिन्न हैं। अनगिनत आत्माओं के कर्म के अनुसार ईश्वर अपनी शक्ति द्वारा माया को उत्तेजित करता है और शरीर, इन्द्रियों आदि की सृष्टि करता है जिसमें सन्निहित शक्ति निरन्तर उपस्थित रहती है।

व्याप्ति दो प्रकार की होती है, वाह्य (वैषयिक) और अन्तरिम (औपश्लेषिक)। वाह्य व्याप्ति आकाश के समान सभी सरूप वस्तुओं को व्याप्त करने वाली है जैसे घट आदि। आन्तरिक व्याप्ति दूध में घी, फल में रस, सरसों में तेल और काष्ठ में अग्नि है। शिव और आत्मा दोनों ही व्यापक और चेतन हैं इसलिए यहाँ व्यापक और व्याप्त के बीच का सम्बन्ध आन्तरिक है। इस सम्बन्ध को बताने के लिए शैव–सिद्धान्ती स्वर और व्यञ्जन का उदाहरण देते हैं। जिस प्रकार 'अ' स्वर सभी वर्णों में पाया जाता है, वैसे ही एक सर्वोच्च आत्मा (शिव) अनेक सीमित आत्माओं को व्याप्त करता है। जिस प्रकार स्वर व्यञ्जन को जीवन देते हैं वैसे ही शिव आत्माओं को जीवन देता है। यद्यपि स्वर व्यञ्जन नहीं हो सकते और व्यञ्जन स्वर नहीं हो सकते, परन्तु दोनों किसी परिणाम की उत्पत्ति के लिए एक हो सकते हैं। ससीम आत्मा और असीम ईश्वर व्याप्ति के विषय में अभिन्न हैं, यद्यपि वे तात्त्विक दृष्टि

से भिन्न हैं। जिस प्रकार वर्ण 'अ' दूसरे वर्णों को अनुप्राणित करता है और उनके जीवन जैसा बना रहता है, वैसे ही शिव आत्माओं को उनके साथ अभिंन्न रूप से रह कर अनुप्राणित करता है। जहाँ 'अ' आदि रूप है, अ के समान पन्द्रह वर्ण इसके परिष्कृत रूप हैं।

आत्मा और शिव के सम्बन्ध की व्याख्या के लिए शैव–सिद्धान्ती कुछ अन्य उदाहरणों का प्रयोग करते हैं। इस सन्दर्भ में शैव–सिद्धान्ती एक उदाहरण शरीर और आत्मा का देते हैं। आत्मा स्नायु और ज्ञानेन्द्रियों से युक्त शरीर में रहता है फिर भी आत्मा और शरीर दो कहे जाते हैं। हम भौतिक शरीर को एक नाम देते हैं और उसे उस नाम से पुकारते हैं तो प्रत्युत्तर आत्मा से आता है। यह इसलिए होता है क्योंकि आत्मा शरीर से भिन्न होने पर भी स्वयं को शरीर और इसके कार्यों के साथ तदनुरूपित करता है। इस प्रकार व्यवहारतः वे एक या अभिन्न हैं। परन्तु आत्मा कभी शरीर नहीं हो सकता और शरीर कभी आत्मा नहीं हो सकता। इसी प्रकार ईश्वर भी स्वयं को आत्मा से तादात्म्यनिरूपित करता है, यद्यपि ईश्वर आत्मा नहीं है और आत्मा ईश्वर नहीं है। इस प्रकार ईश्वर आत्मा के साथ एक भी है और एक नहीं भी है। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि किस प्रकार शिव स्वयं को अनेक से जोड़ता है और अनेक हो जाता है अथवा स्वयं को बाँट देता है?इसके उत्तर में शैव–सिद्धान्ती कहते हैं कि उसके पास उसकी शक्ति है जो उसे अनेक से जोड़ती है।

शैव–सिद्धान्त द्वारा दूसरा उदाहरण प्रत्यक्ष के कार्य का दिया जाता है। प्रत्यक्ष का कार्य एक है, परन्तु दो कर्तृताओं, नेत्र और सूर्य या प्रकाश द्वारा कार्यभूत होता है। नेत्र बिना प्रकाश की सहायता से प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। यद्यपि दोनों, नेत्र का प्रकाश और सूर्य–प्रकाश एक साथ होते हैं, उनका संयोग एक रूप में प्रत्यक्ष होता है। यहाँ नेत्र और सूर्य में कोई कारणता नहीं है। यहाँ भेदाभेद है। यह सम्बन्ध आत्मा या मन अथवा दृश्य इन्द्रिय या नेत्र के सम्बन्ध के समान है। यद्यपि इन सभी विषयों में एक तादात्म्य प्रत्यक्ष होता है, परन्तु सार में एक अन्तर भी देखा जा सकता है। यह ऐसा सम्बन्ध है जो आसानी से शब्दों में स्थापित नहीं किया जा सकता, परन्तु जो शायद कल्पित हो सकता है। शैव–सिद्धान्ती इस प्रकार के सम्बन्ध को अद्वैत नाम देते हैं।

शैव–सिद्धान्ती अद्वैत की व्याख्या प्रचलित अर्थ में न करके थोड़ा भिन्न अर्थ में करते हैं। सामान्यतः अद्वैत को एकत्व या एकम् के अर्थ में लिया जाता है। परन्तु शैव–सिद्धान्त के अनुसार अद्वैत शब्द का अर्थ एकत्व या एकम् नहीं हो सकता

क्योंकि कोई स्वयं को एक जैसा नहीं सोच सकता। यह शब्द मात्र दो के अलगाव को नकारता है। निषेधात्मक उपसर्ग अ या न एक या दो के भावात्मक अस्तित्व का निषेध नहीं करता। यह अभाव के अर्थ में भी प्रयोग नहीं किया गया है। यदि यह इस प्रकार प्रयुक्त किया जाय तो यह न केवल एक या अन्य वस्तु का निषेध करेगा बल्कि दोनों का निषेध कर सकता है और इसकी परिसमाप्ति शून्यवाद में हो सकती है। अद्वैत का संख्यावाची अर्थ लेने पर यह केवल एक अथवा 'एकम् या एकत्व' अर्थ नहीं रख सकता, परन्तु दो से अधिक तीन या अन्य अंक रख सकता है। शिवज्ञान योगी कहते हैं कि जब निषेधात्मक उपसर्ग संख्या के लिए प्रयुक्त होता है तो यह सामान्य प्रयोग में 'इन्मै' या 'अपायम्' अर्थ नहीं रखता। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि कमरे में दो पुस्तकें नहीं हैं तो इसका अर्थ हो सकता है कि 'कमरे में पुस्तकें नहीं हैं' या 'केवल एक पुस्तक कमरे में है' अथवा 'दो पुस्तकों से अधिक है'।

यदि निषेधात्मक उपसर्ग अद्वैतम् में 'अभाव' अर्थ नहीं रखता तो फिर इसका क्या अर्थ सम्भव हो सकता है? यदि दो विषयों का प्रत्यक्ष होता है तो क्या उन्हें द्वैत कहा जा सकता है। इसके उत्तर में शैव–सिद्धान्ती कहते हैं कि वे 'अ-द्वैत' है अर्थात् 'दो जैसे नहीं है'। अद्वैतम् इस प्रकार बिल्कुल शाब्दिक अर्थ रखता है, यह संख्यावाचक अर्थ एकत्व नहीं रखता। शिवज्ञान सिद्धि में अद्वैत की परिभाषा न तो एक, न ही दो, न ही कोई, दिया गया है। इस प्रकार यहाँ एक भावात्मक निषेध होना प्रतीत होता है। इसलिए कहा जाता है कि उसे एक या दो नहीं कहा जा सकता। यदि एक परमतत्त्व ही है तो द्वैत का यह विचार असम्भव है। अद्वैत शब्द दो वस्तुओं का अस्तित्व निहित करता है और दोनों में से एक की सत्ता या अस्तित्व का निषेध नहीं करता। यह मात्र दोनों के बीच सम्बन्ध को बताता है।

शैव–सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जैसे–जैसे ईश्वर के समीप होता है, उसका अणुत्व मिटता जाता है। इस प्रकार एकता के क्षण में उसका कुछ भी नहीं बचता और जो बचता है वह सर्वोच्च एक की उपस्थिति और केवल उसकी उपस्थिति की भावना है। उसके स्वयं की कोई भावना या अन्य की चेतना नहीं रहती। ईश्वर की उपस्थिति और आनन्द की यह भावना 'एक' और 'अद्वैत' है। इस प्रकार के एकत्व या आनन्द की कोई चेतना नहीं होती और द्वैत निश्चय ही उस क्षण उत्पन्न हो सकता है जब चेतना पुनः प्राप्त होगी।

वेदान्त 'अहम् ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) मानता है। शैव–सिद्धान्त 'तत एक' (वह अकेले) मानता है। शैव–सिद्धान्त पूर्णतया और अन्ततः केवल अनुभव को

मानता है। यह अनुभव ईश्वर का आनन्द है। इसी के द्वारा वेदान्त 'सोऽहम्' का संकेत करता है, जिसके द्वारा यह अनुभव प्राप्त होता है। शैव-सिद्धान्त की दृष्टि में इस प्रकार सोऽहम् अनुभव एक द्वैत की चेतना है। यह अर्थ लेने पर शैव-सिद्धान्त अद्वैत है और वेदान्त द्वैत कहा जा सकता है। शिवज्ञान योगी 'अहम् ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' महावाक्यों का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि इन महावाक्यों में प्रयुक्त अद्वैत शब्द एक या दो से अधिक का अनस्तित्व अर्थ नहीं रखता, परन्तु यह विशिष्ट सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त है जो दो भिन्न वस्तुओं के बीच होता है, जो एक हो सकते हैं।

इस सन्दर्भ में एक समस्या उत्पन्न होती है कि शिव को आत्माओं का ज्ञान प्राप्त होता है, परन्तु किस रूप में ? आत्मा शिव से भिन्न है, इसलिए कहा जाता है कि आत्मा शिव द्वारा ज्ञान के विषय रूप में ज्ञात है। यहाँ हमें एक उभयतोपाश का सामना करना पड़ सकता है। यदि आत्मा ज्ञान का विषय हैं तो वे अवच्छिन्न हो जाते हैं और इस प्रकार नाशवान हो जाते हैं। यदि हम कहते हैं कि शिव आत्माओं को नहीं जानता, ताकि इस असंगत स्थिति से बचा जा सके, तो उसकी सर्वज्ञता खतरे में पड़ती है। इस उभयतोपाश से बचने के लिए अर्थात् इसका समाधान करते हुए शैव-सिद्धान्ती कहेंगे कि शिव, आत्मा दोनों चित् स्वरूप हैं। शिव के ज्ञान का ढंग विशिष्ट है। उसके ज्ञान का विषय व्यक्ति के ज्ञान के विषय के समान होना आवश्यक नहीं है। इसलिए शिवज्ञान द्वारा ज्ञान का विषय होने से आत्मा नाशवान नहीं हो सकता और ईश्वर की सर्वज्ञता में कमी आना भी सम्भव नहीं है।

आत्मा की स्थिति स्पष्ट करते हुए शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि शुद्ध विषयात्मक अवस्था में कोई विषयि-परक भावना उपस्थित नहीं होती, वैसे ही मानव अवस्था में आत्मा शुद्ध विषयात्मक दशा में है। इस अवस्था में यह अपने विषयि ईश्वर से अवगत नहीं है। आत्मा दोहरे सम्बन्ध में समर्थ है, इसके पास दो प्रकार के अद्वैत सम्बन्ध हैं। यह माया के साथ अद्वैत सम्बन्ध में है और उसी समय ईश्वर के साथ अद्वैत सम्बन्ध में है। हम प्रथम को इसका विषयात्मक सम्बन्ध कह सकते हैं और दूसरे को इसका विषयि-परक सम्बन्ध कह सकते हैं। जब इसका विषयात्मक सम्बन्ध (इसका तनु, करण आदि से सम्बन्ध) प्रमुख होता है, यह बन्धन में है, यह मूर्त मानव आत्मा है। जब इसकी विषयिपरक अवस्था प्रमुख होती है, यह स्वयं ईश्वर में है और यह मोक्ष है। इसके प्रथम दशा में हम आत्मा को नहीं देखते परन्तु इसके विषय पक्ष, भौतिक शरीर और इन्द्रियों, मनस, चित्त आदि और सम्वेदनाओं को प्रत्यक्ष करते हैं। इसके दूसरी दशा में हम आत्मा को नहीं देखते परन्तु ईश्वर

का अनुभव करते हैं जिसके साथ यह स्वयं को तदनुरूपित करता है। यद्यपि एक में या आत्मा के दूसरी दशा में, एक वस्तु (ईश्वर) या दूसरी (माया) उपस्थित नहीं है, तो भी इसका अस्तित्व या सत्यता नकारी नहीं जा सकती।

शैव–सिद्धान्त एक जीवन्त धर्म दर्शन है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है इसका धर्म एवं दर्शन दोनों होना। शैव–सिद्धान्त में धर्म एवं दर्शन का सुन्दर समन्वय पाया जाता है। प्रायः यह देखा जाता है कि कोई धर्म या तो मात्र धर्म है अथवा जब वह दार्शनिकता का आश्रय लेता है तो अपने धार्मिक स्वरूप को खो देता है। शैव–सिद्धान्त में धर्म एवं दर्शन का जैसा सुन्दर एवं सन्तुलित समन्वय पाया जाता है, वह अन्यत्र भारतीय परम्परा के किसी भी धर्म अथवा दर्शन में नहीं पाया जाता। इस विशेषता को शैव–सिद्धान्त में प्रतिपादित अद्वैतवाद की अवधारणा के दार्शनिक विवेचना द्वारा देखा जा सकता है।

भारतीय परम्परा में धर्म एवं दर्शन के मध्य कोई बहुत ही स्पष्ट रेखा नहीं खींची गई है जिससे कि उन्हें एक दूसरे से अलग किया जा सके। यहाँ धर्म एवं दर्शन साथ–साथ चलते हुए माने गए हैं। दर्शन सत्य का ज्ञान है तथा धर्म उसे प्राप्त करने का साधन, फिर भी धर्म एवं दर्शन के कुछ सामान्य लक्षणों का अलग–अलग निर्धारण किया जा सकता है तथा इन लक्षणों को दृष्टि में रख कर यह देखा जा सकता है कि शैव–सिद्धान्त में ये दोनों प्रकार के लक्षण किस रूप में उपस्थित हैं तथा अन्य दर्शनों में इन दोनों प्रकार के लक्षणों की स्थिति क्या है। तुलनात्मक विवेचन के लिए हम वैदिक परम्परा से अद्वैत–वेदान्त को तथा आगमिक परम्परा से काश्मीर शैव दर्शन को ले सकते हैं। कारण कि अद्वैत–वेदान्त तथा काश्मीर शैव दर्शन दोनों ही अद्वैतवादी हैं तथा शैव–सिद्धान्त दर्शन भी अपने आप को अद्वैतवादी कहता है। यहाँ यह दिखाना अभीष्ट है कि अद्वैतवाद की व्याख्या करने में अद्वैत–वेदान्त और काश्मीर शैव दर्शन में दार्शनिक विशेषताओं का तो प्राधान्य रहता है अथवा यों कहा जाय कि ये शुद्ध रूप से दर्शन कहलाने के ही अधिकारी रह जाते हैं, धर्म नहीं अर्थात् इनमें दार्शनिक विशेषताएँ तो मुखर हैं, किन्तु धार्मिक विशेषतायें या तो समाप्त प्राय हो गई हैं अथवा गौण हो गयी हैं या अधिक महत्वपूर्ण नहीं रह पाई हैं। इनकी तुलना में शैव–सिद्धान्त में एक सन्तुलित स्थिति देखने को मिलती है।

धर्म के सामान्य लक्षण के रूप में पहली विशेषता है धर्म का आस्था एवं विश्वास पर आधारित होना। इस विश्वास का आधार होता है धर्म का दिव्य मूलाधार। धर्म आवश्यक रूप में आध्यात्मिकता से जुड़ा होता है। या तो ईश्वरवादी धर्मों के

अनुसार धर्म में इसलिए विश्वास करना चाहिए क्योंकि धर्म स्वयं ईश्वर द्वारा प्रवर्तित है अथवा पैगम्बरवादी धर्मों के अनुसार धर्म पैगम्बरों के दिव्य ज्ञान पर आधारित है, अथवा साधकों के उच्चतर अतीन्द्रिय अनुभवों पर आधारित्त है जिन्हें बौद्धिक क्षमता द्वारा जाना या समझा नहीं जा सकता, इसलिए उनमें केवल विश्वास ही किया जा सकता है। धर्म की दूसरी विशेषता है धर्म का भावनात्मक होना। धार्मिक व्यक्ति भावुक होता है। वास्तव में व्यक्ति अपने से भिन्न समझी जाने वाली आध्यात्मिक शक्तियों से अपने आपको जोड़ना चाहता है, इसके लिए धर्म माध्यम बनता है तथा यही कारण है जो व्यक्ति को धर्म की ओर आकृष्ट करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के भावात्मक पहलुओं का सम्मान धर्म में होना चाहिए। धर्म की तीसरी विशेषता है धर्म का भक्तिपरक होना। वास्तव में व्यक्ति में जो नहीं है अथवा जिस बात की कमी व्यक्ति में है, उसे पाने के लिए ही व्यक्ति धर्म की शरण लेता है। उसे विश्वास रहता है कि धर्म जिन आध्यात्मिक शक्तियों का वर्णन करता है उससे उसे सबकुछ प्राप्त हो सकता है जिसका अभाव उसमें है। इसलिए व्यक्ति के मन में आध्यात्मिक शक्तियों के प्रति भक्ति स्वाभाविक रूप से रहती है। भक्ति के लिए उपास्य और उपासक का द्वैत होना आवश्यक है। यह मान्यता भी आवश्यक है कि उपास्य और उपासक में भेद हो तथा उपास्य उपासक से श्रेष्ठतर हो तथा उपासक को वह सब कुछ देने में समर्थ हो तथा उपासक को वह सब कुछ देने में समर्थ हो जिसकी कामना उपासक करता है। उपास्य और उपासक में भेद के साथ-साथ एक सम्बन्ध का होना भी आवश्यक है। यदि उपास्य और उपासक में शुद्ध भेद होगा अथवा एक दम से भेद होगा तो भी भक्ति सम्भव नहीं होगी। इसके साथ ही धर्म के लिए यह भी आवश्यक है कि धर्म का तत्त्व, वह चाहे ईश्वर हो या परमतत्त्व, उसे अनुग्रहस्वरूप, दयालु, कृपालु तथा विश्व में अन्तर्भूत होना चाहिए। वह विश्वोत्तीर्ण भी हो सकता है, किन्तु उसका जगत् में अन्तर्भूत होना आवश्यक है ताकि वह धार्मिक व्यक्ति के सुख-दुःख को समझता रहे तथा उसकी मदद भी कर सके।

दर्शन के सामान्य लक्षण के रूप में सबसे पहली विशेषता यह कही जा सकती है कि दार्शनिक तथ्य प्रामाणिकता पर आधारित हों। जहाँ धर्म आस्था एवं विश्वास पर आधारित होता है, वहाँ दर्शन में आस्था एवं विश्वास के लिए कोई स्थान नहीं होता। दर्शन में आस्था एवं विश्वास को मान्यता तभी दी जाती है जब इनकी प्रामाणिकता स्थापित हो जाती है। इसके लिए आस्था एवं विश्वास को तर्क की कसौटी पर खरा उतरना होता है, जो दर्शन की दूसरी सामान्य विशेषता कही जा सकती

है। दर्शन की तीसरी विशेषता है उसका भावनात्मक होने के स्थान पर बौद्धिक होना। दर्शन भावना का नहीं बुद्धि का विषय है। यहाँ भावना को कोई स्थान नहीं दिया जाता। इस लिये दर्शन में भावनात्मक भक्ति, यथा रोना, गाना, आदि को कोई स्थान नहीं दिया जाता। यहाँ भक्ति को भी तभी स्थान मिलता है जब वह बौद्धिक हो अर्थात् उसका स्वरूप बौद्धिक हो यानी वह बौद्धिक अथवा तार्किक दृष्टि से आवश्यक हो। धर्म के तत्त्व ईश्वर अथवा परमतत्त्व के लिए जहाँ अनुग्रह स्वरूप होना, दयालु तथा कृपालु होना एवं विश्वमय होना आवश्यक है, वहाँ दर्शन के परमतत्त्व में ये बाते हों भी सकती हैं तथा नहीं भी हो सकती हैं। धार्मिक भक्ति के लिए जहाँ उपास्य और उपासक का द्वैत अर्थात् जीव और ईश्वर में एक भेद मानना आवश्यक है क्योंकि तभी भक्ति सम्भव होगी, वहाँ दर्शन में इस प्रकार का कोई भी भेद मानना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार का भेद रह भी सकता है और नहीं भी रह सकता है क्योंकि दार्शनिक भक्ति में भावना के लिए कोई स्थान नहीं रहता। इन सबके अतिरिक्त दर्शन की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है अपने सिद्धान्त विश्लेषण में अथवा व्याख्या में सभी प्रकार की पूर्वमान्यताओं अथवा पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर विवेचना करना। धर्म की यह विशेषता है कि धार्मिक व्यक्ति अपने धर्म के सिद्धान्तों के प्रति बद्ध होता है। दर्शन निष्पक्ष चिन्तन करता है। यही बात दर्शन को धर्म से अलग करता है।

अब देखना यह है कि शैव–सिद्धान्त किस प्रकार अपने अद्वैतवाद की व्याख्या में उपरोक्त धार्मिक एवं दार्शनिक विशेषताओं को सन्तुलित रूप में समाहित करता है तथा शैव–सिद्धान्त की तुलना में अद्वैत–वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन द्वारा दी गयी अद्वैतवाद की व्याख्या में उपरोक्त विशेषताओं का स्थान क्या है।

अद्वैतवाद की व्याख्या में समस्या है कि परमतत्त्व के साथ प्रत्यक्ष जगत् एवं जीव के सम्बन्ध की व्याख्या किस प्रकार की जाय। अद्वैतवादी दर्शनों का मुख्य प्रतिपाद्य होता है परमतत्त्व के पूर्णता की व्याख्या। अतः अद्वैतवाद की व्याख्या में समस्या इस प्रकार उठती है कि परमतत्त्व की पूर्णता की व्याख्या किस प्रकार की जाय। सामान्यतः परमतत्त्व को अद्वैत इसलिए माना जाता है क्योंकि वह पूर्ण है। कहने का तात्पर्य यह है कि परमतत्त्व पूर्ण तभी कहा जायेगा जब वह अद्वैत होगा। यदि परमतत्त्व के समानान्तर कोई दूसरा सत् तत्त्व होगा तो इससे परमतत्त्व की पूर्णता में बाधा होगी। इस समस्या का समाधान अद्वैत–वेदान्त, काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव–सिद्धान्त द्वारा अद्वैतवाद की अलग–अलग प्रकार की व्याख्याओं द्वारा किया गया है। वास्तव में परमतत्त्व के साथ जीव एवं जगत् के सम्बन्ध की

व्याख्या में तीन विकल्प सामने आते हैं। पहले विकल्प के अनुसार केवल ब्रह्म की सत्ता है, जीव एवं जगत् की कोई भी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। यह अद्वैतवाद की निषेधात्मक व्याख्या है, जिसके अनुसार ब्रह्म से अतिरिक्त प्रतीत होने वाली सभी वस्तुओं का पारमार्थिक स्तर पर निषेध किया जाता है। दूसरा विकल्प है परमतत्त्व से इतर प्रतीत होने वाली सभी वस्तुओं को परमतत्त्व का स्वरूप ही मान लिया जाना। जो भी है वह परमतत्त्व का अपना स्वरूप ही है। उससे अलग कुछ भी नहीं है। यह अद्वैतवाद की भावनात्मक व्याख्या है। तीसरे विकल्प के अनुसार परमतत्त्व के साथ-साथ जीव एवं जगत् की सत्ता भी मानी जाती है तथा अद्वैतवाद की व्याख्या परमतत्त्व के साथ अन्य दोनों तत्त्वों के मध्य एक अद्वैतपरक सम्बन्ध की मान्यता द्वारा किया जाता है। इसके अनुसार परमतत्त्व जीव एवं जगत् के साथ एक अद्वैत सम्बन्ध में स्थित होता है। पहले विकल्प को अद्वैत-वेदान्त मानता है, दूसरे को काश्मीर शैव दर्शन तथा तीसरे विकल्प के अनुसार शैव-सिद्धान्त अद्वैतवाद की व्याख्या करता है।

अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म शुद्ध, सच्चिदानन्द, निष्क्रिय, साक्षी रूप तथा विश्वोत्तीर्ण माना गया है। जगत् की केवल व्यावहारिक सत्ता मानी गई है। पारमार्थिक स्तर पर जगत् का कोई भी, किसी भी रूप में, अस्तित्व नहीं रहता। जगत् माया द्वारा ब्रह्म पर अध्यारोपित मात्र है। जगत् की प्रतीति तभी तक रहती है जब तक ब्रह्म ज्ञान द्वारा माया अथवा अविद्या का बोध नहीं हो जाता। जगत् को सत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि इससे ब्रह्म की पूर्णता में बाधा आयेगी। ब्रह्म को विश्वोत्तीर्ण माना गया है। ब्रह्म के साथ जगत् के किसी भी प्रकार के भावात्मक सम्बन्ध का निषेध अद्वैत वेदान्त में किया गया है। ब्रह्म को जगत् का स्रष्टा नहीं माना जा सकता क्योंकि ब्रह्म निष्क्रिय है। ब्रह्म निष्क्रिय है क्योंकि ब्रह्म में क्रिया अथवा कर्म नहीं माना जा सकता क्योंकि अद्वैत-वेदान्त के अनुसार किसी भी प्रकार की क्रिया अथवा कर्म ऐच्छिक कर्म होगा जो अपूर्णता का द्योतक है। कहने का तात्पर्य यह है कि कर्म सदा किसी अभाव की पूर्ति के लिए किया जाता है। ब्रह्म में कोई अभाव या अपूर्णता नहीं हो सकती क्योंकि वह पूर्ण है। पूर्णता की स्थिति में इस प्रकार कोई क्रिया नहीं हो सकती। इसलिए अद्वैत-वेदान्त में जगत् की व्याख्या के लिए मायावाद का सहारा लिया गया है। यहाँ जीव का जीवरूप भी तभी तक है जब तक माया अथवा अविद्या का प्रभाव रहता है। ब्रह्मज्ञान द्वारा अविद्या का बाध हो जाने पर न तो जीव की जीवरूपता रहती है और न ही यह जगत्-प्रपञ्च। रहता है तो मात्र ब्रह्म-एकम् अद्वितीयं ब्रह्म का ज्ञान।

इसके विपरीत काश्मीर शैव दर्शन में अद्वैतवाद की भावात्मक व्याख्या की गई है। काश्मीर शैव दर्शन में अद्वैतवाद की व्याख्या के लिए जगत् का निषेध करना आवश्यक नहीं माना गया है। उसके अनुसार जीव और जगत् सभी परमशिव के स्वरूप ही हैं। जगत् की प्रक्रिया शिव के स्वरूप में ही स्थित है। जगत् शिव से अलग अथवा भिन्न नहीं है। इसलिए परमशिव अद्वैतरूप है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार शिव ही अपने आप को लीला के लिए जीव (पशु) और जगत् के रूप में अभिव्यक्त करता है। शिव जगत् का इस प्रकार स्रष्टा है। स्रष्टा होने से परमशिव में किसी प्रकार की अपूर्णता नहीं आती क्योंकि काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि हर प्रकार की क्रिया अभाव से ही प्रेरित हो। स्पन्द क्रिया अपूर्णता की स्थिति में अपने आप आनन्द के सहज उच्छलन के कारण उत्थित होने वाली क्रिया है। इसमें किसी अभाव की पूर्ति की कामना नहीं रहती। शिव की सृष्टि–क्रिया इसी तरह की स्पन्द क्रिया है। शिव को काश्मीर शैव दर्शन में विश्वोत्तीर्ण तथा विश्वमय दोनों ही माना गया है। यह जगत् शिव की ही अभिव्यक्ति है, इसलिए शिव विश्वमय है तथा इस जगदाभास का ज्ञान भी शिव को रहता है अर्थात् वह अपने वास्तविक स्वरूप को जानता भी रहता है, इसलिए शिव जगत् से परे अथवा विश्वोत्तीर्ण भी है।

अद्वैतवाद की उपरोक्त दोनों व्याख्याओं से भिन्न अर्थ में शैव–सिद्धान्ती अपनी व्याख्या प्रस्तुत करता है। शैव–सिद्धान्त के अनुसार अद्वैत–वेदान्त द्वारा दी गयी व्याख्या अद्वैतवाद की संख्यावाची व्याख्या है। इसके अनुसार केवल एक की सत्ता है, दो या इससे अधिक की नहीं। यह अद्वैतवाद की एक दृष्टि से की गई व्याख्या हो सकती है किन्तु यही और मात्र यही अद्वैतवाद की व्याख्या नहीं हो सकती। अद्वैतवाद की दूसरी व्याख्यायें अथवा अर्थ भी सम्भव है। शैव–सिद्धान्त काश्मीर शैव दर्शन द्वारा की गयी व्याख्या को भी स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार यह नहीं माना जा सकता कि स्वयं परमतत्त्व शिव ही पशु रूप में जगत् के दुखों को भोग रहा है तथा इससे छुटकारा पाने के लिए स्वयं शिव ही पशु रूप में शिव से प्रार्थना करता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि शैव–सिद्धान्त ईश्वर के अवतार–वाद में विश्वास नहीं करता। उसके अनुसार ईश्वर कभी भी मानवीय रूप ग्रहण कर जगत् में अवतार (जन्म) नहीं ले सकता क्योंकि तब वह भी जगत् की मलिनता से मलिन हो जायेगा। इसलिए शैव–सिद्धान्त पति, पशु और पाश इन तीन शाश्वत तत्त्वों की सत्ता मानते हुए अपने अद्वैतवाद की व्याख्या करता है। उसके अनुसार शिव आत्मा और जगत् में सदा ही अपनी शक्ति द्वारा अन्तर्भूत रहता

है। इस प्रकार शिव का एक अद्वैतपरक सम्बन्ध आत्मा और जगत् के साथ बना रहता है। इस सम्बन्ध के कारण ही शिव अद्वैत है। अद्वैत में अ उपसर्ग का प्रयोग केवल संख्यावाची अर्थ देने के लिए प्रयुक्त नहीं होता वरन् यह अद्वैत अर्थात् जहाँ द्वैत या भेद अथवा भिन्नता न हो या अलगाव न हो, यह अर्थ भी देता है। शैव–सिद्धान्त कहता है कि जिस प्रकार क, ख आदि व्यञ्जनों में स्वर अ अन्तर्भूत रहता है, उसी प्रकार शिव आत्माओं में तथा जगत् में अन्तर्भूत रहता है। सत्ता के लिये व्यञ्जन क और स्वर अ का अलग अस्तित्व है किन्तु बिना स्वर के व्यञ्जन का उच्चारण ही सम्भव न होता। उसी प्रकार सत्ता की दृष्टि से यद्यपि पति, पशु और पाश ये तीन तत्त्व हैं किन्तु पशु और पाश में पति की शक्ति द्वारा अन्तर्यामिता के कारण इनमें अद्वैत सम्बन्ध है। इस दृष्टि से शैव–सिद्धान्त अद्वैतवादी है। इस अद्वैतवादी व्याख्या की यह विशेषता है कि शैव–सिद्धान्त शिव की पूर्णता का प्रतिपादन करने के लिए न तो अद्वैत–वेदान्त की तरह जगत् का पारमार्थिक स्तर पर निषेध करता है और न ही काश्मीर शैव दर्शन की तरह जगत् को शिव का आभास मानकर जगत् की आभासवादी व्याख्या ही करता है। शैव–सिद्धान्त जगत् और जगत् की सृष्टि–प्रक्रिया को सत्य मानते हुए शिव की पूर्णता एवं अद्वैत की व्याख्या करता है। शिव जगत् की सृष्टि आत्माओं के प्रति अपने अनुग्रह (प्रेम) के कारण करता है। प्रेम के कारण किये गये किसी भी कार्य में कोई अभाव की पूर्ति की कामना अथवा स्वार्थ नहीं सोचा जा सकता। शिव सृष्टि आत्माओं की भलाई के लिए बिना किसी वाह्य अथवा आन्तरिक दबाव के करता है। शिव में कोई आन्तरिक बाध्यता अथवा कमी नहीं है और न ही शिव के समान कोई तत्त्व है जो शिव को सृष्टि के लिए बाध्य करे, पशु और पाश तो शिव पर आश्रित हैं। इसलिए शिव पूर्ण हैं। शिव अपनी शक्ति द्वारा जगत् में अन्तर्भूत होने से विश्वमय है। उसका अस्तित्व सत्ता की दृष्टि से जगत् से भिन्न है। इसलिए वह जगत् की मलिनता से मलिन नहीं होने से शुद्ध तथा विश्वोत्तीर्ण भी है।

अब उपर्युक्त तीनों दर्शनों द्वारा दी गई अद्वैतवाद की व्याख्याओं का तुलनात्मक विवेचन करके यह देखा जा सकता है कि शैव–सिद्धान्त द्वारा की गई व्याख्या की क्या विशेषता है अर्थात् शैव–सिद्धान्त में धर्म एवं दर्शन का किस प्रकार सन्तुलित एवं समन्वित रूप पाया जाता है। किसी भी दर्शन के धार्मिक रूप के लिए यह आवश्यक है कि वह आस्था एवं विश्वास पर आधारित हो अर्थात् उसका आधार दिव्य हो अथवा ईश्वरीय हो। हम पाते हैं कि यह बात तीनों ही दर्शनों में पायी जाती है। तीनों ही दर्शन अपना आधार श्रुति प्रमाण को मानते हैं। अद्वैत–वेदान्त

वेद और उपनिषद् को, काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त शैवागमों को, जो उच्चतर दिव्य अनुभूतियों पर आधारित हैं। श्रुति प्रमाण को दार्शनिक मान्यता तभी मिलती है जब वह तार्किकता की कसौटी पर खरी उतरे। तीनों ही दर्शन अपने चिन्तन का आधार तो श्रुति-प्रमाण को मानते हैं किन्तु अपने दार्शनिक विषयों का सम्यक् तार्किक एवं बौद्धिक विवेचन करते हैं। अपने अद्वैतवाद की व्याख्या तीनों ही दर्शन अकाट्य तर्कों द्वारा करते हैं। ऐसा करने में वे अपने आप को पूर्वाग्रहों से मुक्त होने का ही दावा करते हैं। वास्तव में कितना मुक्त हो पाते हैं, यह अलग बात है। भक्ति को तीनों ही दर्शनों में स्थान दिया गया है। इस दृष्टि से तीनों ही दर्शन धर्म एवं दर्शन दोनों ही कहे जा सकते हैं किन्तु भक्ति के तत्त्वों की व्याख्या में ही धर्म एवं दर्शन का सन्तुलन स्थिर नहीं रह पाता। इसकी व्याख्या में अद्वैत-वेदान्त और काश्मीर शैव दर्शन अन्ततः शुद्ध रूप से दार्शनिक ही रह जाता है। धार्मिक नहीं। शैव-सिद्धान्त अपने दोनों रूपों को अन्ततः बनाये रहता है।

अद्वैत-वेदान्त में भक्ति केवल ईश्वर के स्तर तक ही मानी गई है। ब्रह्म के स्तर पर भक्ति को कोई स्थान अथवा उसकी आवश्यकता नहीं मानी गई है। भक्ति के लिए उपास्य और उपासक का भेद होना आवश्यक है। यह भेद अद्वैत-वेदान्त में तभी तक है जब तक ब्रह्म ज्ञान द्वारा माया अथवा अविद्या का बाध नहीं हो जाता। ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर केवल ब्रह्म की ही सत्ता रहती है। उपास्य ईश्वर है, ब्रह्म नहीं। ईश्वर ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है, उसका स्वरूप लक्षण नहीं। ईश्वर माया से उपहित ब्रह्म है। ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप नहीं। इस शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति ज्ञान द्वारा होती है। भक्ति इसमें सहायक मात्र है जो मात्र ईश्वर के स्तर तक ही रहती है। इस प्रकार ब्रह्म ज्ञान के स्तर पर न तो उपास्य ही (ईश्वर) रहता है और न ही उपासक (जीव) रहता है। इस स्तर पर भक्ति के भावनात्मक पक्ष को कोई स्थान नहीं मिलता है। यहाँ भक्ति की ही कोई आवश्यकता नहीं रहती। यह शुद्ध रूप से दार्शनिकता की स्थिति है। यहाँ धार्मिक विशेषता जिसमें व्यक्ति के भावनात्मक पक्ष को महत्वपूर्ण माना जाता है, गौण हो जाती है। अथवा यदि स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो एक दम समाप्त हो जाती है। यदि कुछ बचता है तो मात्र दर्शन और दार्शनिक ज्ञान।

काश्मीर शैव दर्शन के अद्वैतवाद में भी भक्ति को स्थान दिया जाता है तो मात्र पशु के स्तर पर। शिव के स्तर पर भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं रहता। उपास्य और उपासक का भेद काश्मीर शैव दर्शन में भी केवल पशु के स्तर तक ही माना गया है। काश्मीर शैव दर्शन में स्वयं शिव ही अपनी लीला के लिए पशु रूप ग्रहण करता है। पशु रूप में आने के बाद माया के पञ्चकंचुकों के प्रभाव के

कारण वह अपने वास्तविक रूप, शिवरूप को भूल जाता है तथा सांसारिक सुख–दुःख को अपने कर्मानुसार भोगता रहता है। इस सांसारिक बन्धन से छुटकारा पाने के लिए पशु शिव की आराधना, उपासना करता है। यह भक्ति अथवा उपास्य–उपासक भेद तभी तक रहता है जब तक कि साधक को शिव ज्ञान अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा नहीं हो जाती। स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा हो जाने पर केवल शिव ही रहता है। समस्त जगत् समस्त जीव शिव के ही स्वरूप समझे जाते हैं। यह स्थिति दार्शनिकता की ही स्थिति शुद्धरूप से कही जा सकती है, धार्मिकता की नहीं। धार्मिक व्यक्ति भावुक होता है। वह अपने उपास्य को अपने से श्रेष्ठ मानता है। वह यह नहीं मान सकता कि वही स्वयं उपास्य और उपासक दोनों है। यह बात दार्शनिक दृष्टि से सत्य हो सकती है अर्थात् सम्भव हो सकती है किन्तु इसे धर्म के भावनात्मक पक्ष अथवा भक्त की मानसिकता के अनुरूप होना नहीं माना जा सकता। इस प्रकार हम पाते हैं कि काश्मीर शैव दर्शन में भी अद्वैतवाद की व्याख्या में धार्मिक पक्ष कुछ दब सा जाता है, केवल दार्शनिक पक्ष की ही प्रधानता रहती है।

अद्वैत–वेदान्त एवं कश्मीर शैव दर्शन के विपरीत शैव–सिद्धान्त अपने अद्वैतवाद की व्याख्या में भक्ति के भावनात्मक पक्ष को, उपास्य और उपासक के भेद को अन्ततः मोक्ष की स्थिति में भी बनाये रखता है। शैव–सिद्धान्त के अनुसार आत्मा का शिव से अलग स्वतन्त्र अस्तित्व है। किन्तु आत्मा अपने मोक्ष के लिए शिव के अनुग्रह पर आश्रित है। मोक्ष प्राप्ति के लिए आत्मा शिव की भक्ति अथवा उपासना करता है। यहाँ उपास्य को उपासक से भिन्न तथा श्रेष्ठ माना गया है। मोक्ष की स्थिति में आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। उसमें शिव के समान ही शक्तियों की अभिव्यक्ति हो जाती है। किन्तु आत्मा स्वयं शिव नहीं बन जाता। मोक्ष में भी आत्मा और शिव का सत्तामूलक द्वैत, उपास्य और उपासक का भावनात्मक भेद बना रहता है। यद्यपि आत्मा का शिव के साथ सम्बन्ध मोक्ष की अवस्था में भी अद्वैतपरक ही रहता है।

ईसाई धर्म में भी शैव–सिद्धान्त के समान ही ईश्वर एवं मानव (आत्मा) में सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया है। शैव–सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर एवं आत्मा दोनों ही नित्य एवं शाश्वत तत्त्व हैं किन्तु ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर नित्य एवं शाश्वत तत्त्व है जब कि आत्मा अथवा मानव सृष्ट तत्त्व है। ईश्वर ने आत्मा (मानव) को सृष्ट किया है। शैव–सिद्धान्त तथा ईसाई धर्म दोनों ही इस बात को स्वीकार करते हैं कि ईश्वर सदैव आत्मा अथवा मनुष्य के सान्निध्य में रहता है।

दोनों ही धर्मों के अनुसार ईश्वर मनुष्य में निवास करता है अर्थात् व्याप्त किये रहता है। शैव–सिद्धान्त ईश्वर एवं आत्मा अथवा मनुष्य के सम्बन्ध को अद्वैत कह कर व्याख्या करता है। ईसाई धर्म में इस सम्बन्ध को पिता–पुत्र सम्बन्ध कह कर व्याख्या किया गया है।

ओल्ड टेस्टामेन्ट के अनुसार परमेश्वर अपनी प्रजा से दूर नहीं उनके बीच में ही रहता है। ईश्वर ने यावे के रूप में यहूदियों का पथ प्रदर्शन किया, नबियों के द्वारा उन्हें अपना वचन सुनाया करते थे तथा इस प्रकार सदैव उनके पास रहते हैं। यावे नाम का अर्थ ही है 'मैं वही हूँ जो आपके साथ हूँ।' ओल्ड टेस्टामेन्ट की मान्यता के अनुसार मानव शासक के माध्यम से परमेश्वर अपनी प्रजा की रक्षा करता है। कहा गया है कि परमेश्वर सदा अपनी प्रजा के बीच में निवास करता है। मूसा के विषय में कहा गया है कि वे परमेश्वर से आमने–सामने हो कर इस प्रकार बात करते थे जैसे कोई अपने मित्र से बातें करता हो।[१] यह भी कहा गया है कि परमेश्वर उन सबके निकट हैं जो सच्चे मन से उसे पुकारते हैं।[२]

ईसाई धर्म में ईश्वर को पिता एवं मनुष्य को पुत्र कहा गया है। इसके अनुसार सब मानव पिता–परमेश्वर के पुत्र हैं। परमेश्वर सब मनुष्यों के प्रति आदर्श पिता का व्यवहार करता है तथा अपनी भौतिक जरूरतों के लिए मनुष्य उस पर बच्चों की भाँति भरोसा रख सकते हैं। ईसा मसीह के पर्वत प्रवचन में कहा गया है, 'यह सोचकर चिन्ता मत करो कि हम क्या खायें, क्या पियें, क्या पहनें। स्वर्ग में निवास करने वाला तुम्हारा पिता जानता है कि तुम्हें इन सब चीजों की जरूरत है।[३] ईसा मसीह ने उस दयालु पिता के रूप में परमेश्वर का वर्णन किया है जो मनुष्य के अपराधों को क्षमा करता है। वह न केवल आध्यात्मिक बल्कि शारीरिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति करता है। ईसा मसीह अपने शिष्यों को प्रार्थना करते समय परमेश्वर को 'पिता' कहना सिखाते थे। वे कहते थे, 'इस प्रकार प्रार्थना किया करो– हे स्वर्ग में विराजमान हमारे पिता!'[४]

शैव–सिद्धान्त और ईसाई धर्म दोनों में ईश्वर और जीवात्मा की अलग–अलग सत्ता मानी गई है। दोनों के अनुसार अस्तित्व की दृष्टि से जीवात्मा और ईश्वर पृथक्–पृथक् तत्त्व हैं। शैव–सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा नित्य और शाश्वत तत्त्व

---

१. निर्गमन ग्रन्थ, ३३/११.

२. स्रोत, १४५/१८.

३. मत्ती, ६/३१-३२.

[illegible]

है। जीवात्मा सृष्ट अथवा उत्पन्न नहीं है। ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर ने जीवात्मा (मानव) को वैसे ही सृष्ट किया अथवा बनाया जैसे वह जगत् को बनाया है। दोनों धर्म यह मानते हैं कि ईश्वर जीवात्मा के सानिध्य में सदैव रहता है। ईश्वर जीवात्मा को वैसे ही प्रेम करता है जैसे पिता अपने अपने पुत्र को प्रेम करता है। शैव–सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर आत्माओं में शक्तिरूप से निवास करता है।

शैव–सिद्धान्त के अनुसार आत्मा सत्ता की दृष्टि से स्वतन्त्र–अस्तित्ववान है किन्तु अपने कार्यों, शक्ति तथा मोक्ष आदि के लिए ईश्वर पर निर्भर है। ईसाई धर्म के अनुसार आत्मा (मानव) अपने अस्तित्व के लिए तथा अपने अन्य सभी क्रिया–कलापों के लिए ईश्वर पर निर्भर है। ईसाई धर्म के अनुसार मानव ईश्वर की सृष्टि है। शैव–सिद्धान्त तथा ईसाई धर्म दोनों ही इस बात को मानते हैं कि आत्मा की मुक्ति ईश्वर की कृपा से ही होती है। शैव–सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर अनुग्रहस्वरूप अथवा प्रेम स्वरूप है। वह अनादि बन्धन से ग्रस्त आत्मा को मुक्ति प्रदान कराना चाहता है। इसके लिए ईश्वर सृष्टि आदि कार्यों के द्वारा आत्मा की सहायता करता है। शिव गुरू के रूप में प्रकट होकर आत्मा को ज्ञान प्रदान करता है तथा उसकी सहायता करता है। ईसाई धर्म में भी यह माना गया है कि ईश्वर अनुग्रहस्वरूप अथवा प्रेमस्वरूप है तथा मानव का उद्धार करना चाहता है। ऐसी मान्यता है कि मानवों की भलाई करने के लिए ईश्वर समय–समय पर मसीहा भेजता रहता है जो मानवों की भलाई में सन्लग्न रहते हैं।

ईश्वर और मानव के बीच सम्बन्ध की व्याख्या करने के लिए ईसाई धर्म में अद्वैतवाद अथवा द्वैतवाद जैसी किसी अवधारणा का विकास अथवा प्रचलन नहीं है। किन्तु ईसाई धर्म की एतद् सम्बन्धी अवधारणा का शैव–सिद्धान्त की एतद् सम्बन्धी अवधारणा से साम्य देखा जा सकता है। शैव–सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर और आत्मा सत्ता की दृष्टि से भिन्न एवं पृथक् हैं किन्तु ईश्वर सदैव आत्मा के साथ एक अद्वैतपरक सम्बन्ध में रहता है। ईश्वर आत्मा को व्याप्त किये रहता है, आत्मा में अन्तर्भूत रहता है अथवा ईश्वर आत्मा के साथ सामीप्य सम्बन्ध में सदैव रहता है। इस प्रकार के सम्बन्ध को ही शैव–सिद्धान्त में अद्वैतवाद कहा गया है। ईसाई धर्म के अनुसार भी ईश्वर एवं मानव की भिन्न तथा पृथक् सत्ता है। ईसाई धर्म भी इस बात को मानता है कि ईश्वर सदा ही मानव के पास रहता है अर्थात् ईश्वर मानव के साथ सामीप्य सम्बन्ध में रहता है। ईश्वर मानव से दूर कभी नहीं जाता। वह सदैव मानव का ध्यान रखता है। इस दृष्टि से विचार करने पर शैव–सिद्धान्त तथा ईसाई धर्म में साम्य देखा जा सकता है।

शैव–सिद्धान्त तथा ईसाई दोनों ही धर्मों में ईश्वर एवं मानव का भेद प्रतिपादित किया गया है। सांसारिक अवस्था में तो भेद है ही पारलौकिक अवस्था अथवा मुक्ति की अवस्था में भी भेद बना रहता है। शैव–सिद्धान्त तथा ईसाई दोनों ही धर्म भक्ति मार्गी धर्म हैं। अतः उपास्य एवं उपासक का भेद अथवा द्वैत दोनों ही धर्म मानते हैं। दोनों ही धर्मों में कुछ विशेष अर्थों में ईश्वर के साथ मानव अथवा आत्मा की समतुल्यता प्रतिपादित की गई है किन्तु दोनों ही धर्मों में ईश्वर एवं आत्मा को बराबर नहीं माना गया है। शैव–सिद्धान्त के अनुसार आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में शिव के समान ही इच्छा शक्ति, क्रिया शक्ति तथा ज्ञान शक्ति से सम्पन्न है एवं पूर्ण, विभु तथा सर्वज्ञ है। इस दृष्टि से आत्मा शिव के समान है किन्तु वह ईश्वर नहीं है अथवा ईश्वर के बराबर नहीं है। मुक्ति की अवस्था प्राप्त कर अपने पूर्ण रूप में प्रकाशित होकर भी आत्मा ईश्वर का सेवक ही है। उपास्य एवं उपासक का भेद अथवा अन्तर मुक्ति की अवस्था में भी बना रहता है। ईसाई धर्म में भी इससे मिलती जुलती अवधारणा पाई जाती है। ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर ने मानव को अपने अनुरूप अथवा अपनी अनुकृति के रूप में बनाया। इस दृष्टि से ईश्वर एवं मानव में समानता की बात कही जाती है किन्तु वहाँ भी ईश्वर एवं मानव को बराबर नहीं माना जाता। मुक्ति की अवस्था में भी मानव ईश्वर के बराबर नहीं है। उस अवस्था में भी मालिक एवं सेवक अथवा पिता एवं पुत्र का भेद अथवा अन्तर का होना ईसाई धर्म में भी माना गया है।

ईश्वर को मानव का उद्धारक दोनों ही धर्मों में माना गया है। दोनों ही धर्मों में ईश्वर को अनुग्रहरूप अथवा प्रेमस्वरूप माना गया है। ईश्वर मानव से प्रेम करता है तथा मानव का उद्धार करना चाहता है। मानव के उद्धार के लिए ईश्वर गुरू रूप में अथवा मसीहा के रूप में प्रकट होता है तथा मानव का मार्गदर्शन करता है। ईश्वर हर प्रकार से मानव की सहायता करता है। मानव को उपदेश देता है, सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है, पाप से विरत रहने की सलाह देता है तथा अन्ततः मानव की साधना, भक्ति अथवा प्रार्थना आदि से प्रसन्न होकर मानव पर अनुग्रह करके उसे मुक्ति भी प्रदान करता है। यह बात दोनों ही धर्मों में समान रूप से मानी गई है। दोनों ही धर्मों में ईश्वर को मानव के कर्मों का नियन्ता अथवा कर्मफल दाता माना गया है। इसके अनुसार ईश्वर सभी मनुष्यों के कर्मों को देखता है एवं जानता है तथा सभी मनुष्यों के कर्मों के अनुसार उन्हें फल प्रदान करता है। शैव–सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य अपने कर्मों का फल वर्तमान जीवन में तथा जन्म एवं पुनर्जन्म के चक्र में पड़कर भोगता रहता है। ईसाई धर्म के अनुसार वर्तमान जीवन में मनुष्य

अपने कर्मों के अनुसार सुख–दुःख तो भोगता ही है 'निर्णय के दिन' उसके पाप और पुण्य का न्याय ईश्वर करता है तथा उसे उसके कर्मों के आधार पर स्वर्ग अथवा नर्क में स्थान प्रदान करता है। मनुष्य को पापकर्म से विरत करने के लिए ईश्वर ने कर्म–नियम में दण्ड–व्यवस्था का प्राविधान भी किया है। मनुष्य को कर्मफल के रूप में मिलने वाला दुख इस दण्ड–व्यवस्था का ही परिणाम है। किन्तु यह दण्ड व्यवस्था भी अन्ततः ईश्वर की कृपा अथवा अनुग्रह का ही अङ्ग है। इस दण्ड व्यवस्था में भी ईश्वर का प्रयोजन निहित है। वह प्रयोजन है मनुष्य की भलाई करना अथवा मनुष्य का उद्धार करना। इस बात को लेकर शैव–सिद्धान्त तथा ईसाई धर्म में समानता देखी जा सकती है।

७. सृष्टि-प्रक्रिया

शैव–सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि में एक दिव्य प्रयोजन निहित है। ईश्वर सृष्टि द्वारा आत्मा की भलाई करना चाहता है। आणव के आवरण के कारण आत्मा के वास्तविक स्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। मल से संसिक्त होने के कारण इसकी यथार्थ योग्यता स्पष्ट नहीं हो पाती। ईश्वर आत्मा को सच्चे स्वरूप में वापस लाना चाहता है। ऐसा करने के लिए उसे अशुद्धता को हटाना पड़ता है जो आत्मा को आच्छादित किये है। यह अशुद्धता एक प्रकार का मल है जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप को बाधित करता है और इसीलिए बन्धनस्वरूप कहा जाता है। यह अपने को आत्मा से सम्बद्ध करके इसकी शुद्धता को मैला करता है जैसे जंग ताँबे की शुद्धता को दूषित करता है।

आत्मा की मल से मुक्त होने की प्रक्रिया जटिल है। शिव इस प्रक्रिया को प्रवर्तित करता है और आत्माओं का मार्गदर्शन करता है। अपनी मुक्ति के लिए प्रयास आत्माओं को ही करना पड़ता है। आत्माओं को प्रयास करने के लिए एक शरीर और आधारभूमि की आवश्यकता होती है, जहाँ वह कार्य कर सके। सृष्टि द्वारा इन आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है। स्थिति की अवधि में शरीर से युक्त आत्मा कार्य करना आरम्भ करता है। इसके कार्य कर्म में परिणत होते हैं जिससे आत्मा एक शरीर को ग्रहण करता है। यह प्रक्रिया बार–बार दुहरायी जाने से लम्बी और कष्टप्रद हो जाती है। इसलिए आत्माओं को आराम देने के लिए प्रलय किया जाता है। इस अवधि में आत्मा आराम करते हैं।

शिव द्वारा आत्माओं का कल्याण करने के प्रयोजन में कोई वाह्य कारण अथवा दबाव निहित नहीं है। शिव आत्माओं के प्रति अपने प्रेम के कारण सृष्टि करता है। आत्माओं के प्रति यह प्रेम ही शिव के सारे कृत्यों को वास्तविक करता है।इस प्रेम के कारण ही वह जगत् की सृष्टि करने की इच्छा करता है और उसे सृष्ट भी करता है। वह उसे नष्ट करता है और पुनः उत्पन्न भी करता है। यह प्रक्रिया बार–बार दुहराई जाती है। वह यह कृत्य प्रयोजनहीन अथवा मात्र अपनी मौज या आनन्द के लिए नहीं करता। वइ इसे केवल अपने प्रेम के कारण करता है। भ्रमित और अज्ञानी आत्माओं को ऊपर उठाने में सहायता करने के लिए वह उन्हें शरीर और इन्द्रियाँ प्रदान करता है ताकि वे स्वयं इच्छा और कार्य कर सकें तथा पाप और

पुण्य का विभेद करने में सक्षम हो सकें। कष्ट और दुःख द्वारा परिष्कृत और शुद्ध हो सकें तथा अपनी इच्छा को सर्वोच्च इच्छा में मिलाना सीख सकें। इस प्रकार शैव–सिद्धान्त में जगत् आणव से मुक्ति दिलाने के लिए सृष्ट किया गया है जो पूर्व वैश्विक है। इस आणव के प्रभाव से आत्मा की ज्ञान और इच्छा शक्तियाँ सीमित हो गई हैं जिससे वे ससीम हो गये हैं। शिव इस प्रकार के आत्माओं को बन्धन की पकड़ से मुक्त करता है और उन्हें शिवत्व प्राप्त करने में सहायता करता है।

सृष्टि में प्रयोजन मान लेने पर प्रश्न उठता है कि शिव यह सृष्टि अपने लिए करता है, कुछ पाने के लिए अथवा दूसरों के लिए? यदि ईश्वर अपने लिए सृष्टि करता है तो इसका अर्थ होगा कि उसमें कुछ कमी है जिसे वह अपने सृष्टि कार्य से प्राप्त करता है। परन्तु यह कहना कि ईश्वर किसी चीज की पूर्ति की आवश्यकता में है, उसके 'नित्य तृप्तत्व' के विरुद्ध है। इसलिए सृष्टि नैसर्गिक होनी चाहिए, न किसी आवश्यकता के परिणामस्वरूप क्योंकि ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे वह चाहता हो और जिसे वह बिना अपने सृष्टि–कार्यों के प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए शैव–सिद्धान्त मानता है कि शिव जगत् की सृष्टि अपने लिए नहीं करता बल्कि दूसरों के लिए करता है। सृष्टि को प्रयोजनरहित मानने वाले कहते हैं कि सृष्टि खेल अथवा कलाकार की सहज कलात्मक सृष्टि है। शैव–सिद्धान्ती सृष्टि में प्रयोजन मानते हुए कहते हैं कि खेल प्रयोजन रहित कार्य नहीं माना जा सकता। यह मनोरंजन अथवा अन्ततः सुखानुभूति के लिए है। कलाकार भी यदि कुछ नहीं चाहता तो स्वयं को अपनी रचना में व्यक्त करना चाहता है। कोई चीज अवश्य रहती है जो उसे प्रेरित करती है। इसलिए सृष्टि जैसे कार्य को प्रयोजन रहित नहीं कहा जा सकता। शैव–सिद्धान्त में भी सृष्टि को ईश्वर का खेल कहा गया है, परन्तु विशिष्ट अर्थ में। इसका तात्पर्य है कि यहाँ ईश्वर के लिए किसी भी प्रकार का उद्योग अथवा प्रयास निहित नहीं होता। यह कार्य ईश्वर द्वारा खेल में ही हो जाता है अर्थात् बिना किसी परिश्रम के अत्यन्त आराम से सम्पादित हो जाता है।

अद्वैतवादी दर्शन सृष्टि या तो परमार्थतः मानता नहीं एवं यदि मानता भी है तो स्वयं परम तत्त्व के अपने लिए। यहाँ सृष्टि दूसरों के लिए नहीं हो सकती क्योंकि तब ईश्वर से भिन्न उन सत्ताओं को मानना पड़ेगा, जिनके लिए सृष्टि की जाती है। ऐसी दशा में ईश्वर और उन सत्ताओं (जिनके लिए सृष्टि की जाती है) के बीच सम्बन्ध की व्याख्या स्पष्ट नहीं हो पाती। यदि यह सम्बन्ध तादात्म्य का है, जैसे स्वर्ग और इससे निर्मित गहनों में है तो इसका अर्थ यह होगा कि ईश्वर अपने लिए सृष्टि करता है। यदि यह सम्बन्ध शुद्ध भेद का है, जैसे प्रकाश और

अन्धकार में तो इसका अर्थ यह है कि वह उसके लिए सृष्टि करता है जो उससे पूर्णतः भिन्न है। ईश्वर का कार्य किसी भी चीज के लिए हो सकता है, परन्तु उसके लिए मान्य नहीं हो सकता जो उससे पूर्णतः भिन्न है। जिस प्रकार शुद्ध तादात्म्य कोई सम्बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार शुद्धभेद भी सम्बन्ध का निषेध है। शैव–सिद्धान्त में इस प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि ईश्वर उन सत्ताओं (आत्माओं) से भिन्न होते हुए भी अभिन्न है। इसलिए सृष्टि दूसरों के लिए मानी जा सकती है।

शैव–सिद्धान्त सृष्टि की व्याख्या सत्कार्यवादी कारणता सिद्धान्त के आधार पर करता है। शैव–सिद्धान्त सत्कार्यवाद के आधार पर सृष्टि की यथार्थवादी व्याख्या करता है। सत्कार्यवादी के अनुसार कार्य की उत्पत्ति हो जाने पर कारण का सर्वथा विनाश नहीं हो जाता प्रत्युत कारण अपने सार रूप में कारण के तदनुरूप ही है। कार्य की उत्पत्ति का अर्थ कारण से कार्य का भिन्न होना है तथा इसके विनाश का अर्थ पुनः कारण से अभिन्न स्थिति को प्राप्त करना है। कार्य की उत्पत्ति का सामान्य तात्पर्य यही है कि कार्य, जो अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में अव्यक्त रहता है, अपनी उत्पत्ति के उपरान्त व्यक्त हो जाता है।

इस सिद्धान्त की सामान्य विशेषता एक यह है कि इसके अनुसार प्रत्येक उपादान से प्रत्येक कार्य का उत्पादन नहीं हो सकता। कार्य के उत्पादन के लिए उपादान सामग्री की उपयुक्तता एक आवश्यक शर्त है। यदि इस प्रकार का अनुबन्ध न हो तो प्रत्येक कार्य किसी भी कारण से परिणमित हो सकता है। सत् कारण से सत् कार्य की ही उत्पत्ति होती है। सत् से असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती अथवा असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यद्यपि कार्य का अस्तित्व कारण में नित्य होता है किन्तु उसका स्वरूप अव्यक्त होता है। अतः उसे व्यक्त करने के लिए एक कर्ता की आवश्यकता अपरिहार्य है। इस सन्दर्भ में आक्षेप किया जाता है कि यदि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान है तो उसे व्यक्त करने के लिए किसी कर्ता की अपेक्षा नहीं होती। यदि कर्ता आवश्यक है तो कार्य के अस्तित्ववान या अनस्तित्ववान होने की शर्त आवश्यक नहीं है और कर्ता अपनी इच्छानुसार कोई भी कार्य उत्पन्न कर सकता है। परन्तु सत्कार्यवाद सिद्धान्त की आवश्यक शर्त है कि निश्चित कारण से ही निश्चित कार्य उत्पन्न किया जा सकता है, जैसे राई से ही तेल निकाला जा सकता है, बालू से नहीं। यहाँ कर्ता की इच्छा आवश्यक है परन्तु स्वतन्त्र नहीं है। कार्य के उत्पादन के लिए कारण में कार्य के उत्पादन की क्षमता होनी चाहिए। यदि यह क्षमता कारण में

नहीं है तो कर्ता किसी भी प्रकार से कार्य का उत्पादन नहीं कर सकता। बालू में तेल के उत्पादन की क्षमता नहीं है तो किसी भी प्रकार बालू से तेल नहीं निकाला जा सकता।

इस प्रकार सत्कार्यवाद के अनुसार कारणात्मक सम्बन्ध रूप और पदार्थ, गुण और गुणी का सम्बन्ध है। दो गुण केवल गुणी की मध्यस्थता से ही सम्बन्धित हो सकते हैं। कारण और कार्य की निरन्तरता भेदाभेद और अभेद दो प्रकार के सम्बन्धों को निहित करती है। इनमें से एक रूपों के सन्दर्भ में है और दूसरा स्थायी पदार्थ के सन्दर्भ में है। परिवर्तनशील रूपों के विचार से, जो एक निर्धारित रूप को छोड़कर एक नये की अपेक्षा (परिणमन) करता है, यहाँ भेदाभेद है और पूर्वस्थित सामग्री के विचार से यहाँ भेद है।

सत्कार्यवाद की इन विशेषताओं के परिप्रेक्ष्य में शैव–सिद्धान्ती जगत् के कारणता सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। शैव–सिद्धान्ती जगत् को कार्यरूप मानते हैं। क्योंकि जगत् नानाविध अवयवों का समूह है। कार्यरूप होने से जगत् का एक कारण भी होना चाहिए जिससे यह कार्यभूत हो। शैव–सिद्धान्त में यह कारण माया को माना गया है। जगत् अपने प्रथम कारण माया में पूर्वस्थित रहता है। यदि हम कार्य की कारण में पूर्वस्थिति को न माने तो हमें खरगोश की सींग की सम्भावना को भी मानना पड़ेगा। इस सन्दर्भ में एक आक्षेप होता है कि क्या वृक्ष से गिरी हुई पत्तियाँ पुनः वृक्ष में वापस आ सकती हैं। यदि नहीं आ सकती तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि कार्य अपने कारण में पूर्वस्थित रहता है और बाद में अभिव्यक्त हो जाता है। शैव–सिद्धान्ती इसकी व्याख्या अपने ढंग से करते हैं। उनके अनुसार पत्तियों के पास कारणात्मक शक्ति होती है जो समय, कर्म आदि सहायक कारणों की उपस्थिति से बाद में स्वयं को पुनः अभिव्यक्त कर सकती है। यह भी कहा जाता है कि कारण में कार्य की उपस्थिति मानने से जगत् के विनाश की व्याख्या नहीं हो पाती। शैव–सिद्धान्त के अनुसार कारण में कार्य की (बीजरूप में) नित्य सत्ता है। इस दृष्टि से जगत् को अनादि और शाश्वत कहा जा सकता है। पुनः हम जगत् की उत्पत्ति और विनाश को मानते है क्योंकि यह परिवर्तन का विषय भी है। किन्तु यदि इसके परिवर्तन को न लिया जाय तो जगत् शाश्वत कहा जा सकता है।

कार्य को अस्तित्व में लाने के लिए एक कर्ता आवश्यक है। शैव–सिद्धान्त में यह कर्ता सर्वशक्तिमान् शिव है। शिव के बिना जगत् विकसित नहीं हो सकता। आगमों में कहा गया है कि विश्व अस्तित्व में आता है, अस्तित्व में बना रहता है और फिर नष्ट भी हो जाता है। यह कथन विश्व के अस्तित्व परक स्वरूप का समर्थन

करता है। इसे न तो अनस्तित्ववान कहा जा सकता है और न ही प्रवाह मात्र। यह एक सत्ता है जिसका विकास और विनाश होता है। जगत् जो विकास और प्रलय की प्रक्रिया में है एक चेतन कर्ता का संकेत करता है जो इस प्रक्रिया को सञ्चालित करे क्योंकि जड़ होने से स्वयं जगत् इस प्रक्रिया को सञ्चालित नहीं कर सकता। शैव–सिद्धान्त में यह चेतन कर्ता शिव है।

शिव जगत् का निमित्त कारण है जो जगत् के विलय का आधार (लयाधिष्ठान) है। शिव तत्त्वातीत है और अन्तर्भूत रूप से जगत् में उपस्थित है जो भावात्मक रूप से जगत् के अस्तित्व को सोचता है और अपनी अन्तर्यामिता से जगत् का पालन करता है। जगत् का ऐसा कारण नहीं माना जा सकता जो इससे अलग हो क्योंकि सत्कार्यवाद के अनुसार कारण कार्य के साथ निरन्तर रहता है। शैव–सिद्धान्त के अनुसार शिव भी जगत् के साथ इसके प्रलय और विकास के नित्य आधार के रूप में निरन्तर है।

कार्य की उत्पत्ति के लिए कर्ता की इच्छा का होना आवश्यक है। यह इस बात का संकेत करता है कि कर्ता कार्य को उत्पन्न करने में स्वतन्त्र है। शैव–सिद्धान्त के अनुसार शिव स्वतन्त्र है। शिव अपनी स्वतन्त्रेच्छा से जगत् को उत्पन्न करता है। जगत् को उत्पन्न करना उसके लिए बाध्यता नहीं है। वह चाहे तो जगत् को न भी उत्पन्न कर सकता है। शिव माया से ही जगत् को उत्पन्न करता है क्योंकि अन्य कोई तत्त्व जगत् को (यथार्थवादी जगत् को) उत्पन्न करने के लिए उपयुक्त नहीं है। सत्कार्यवादी कारणता सिद्धान्त में कारण और कार्य में भेदाभेद सम्बन्ध माना गया है। कारण और कार्य दो अस्तित्व हैं, इसलिए भेद है और कार्य में कारण अन्तर्भूत है अतः भेदाभेद सम्बन्ध है। शैव–सिद्धान्त में भी शिव और जगत् में भेदाभेद सम्बन्ध है।

प्रत्येक वस्तु तीन कारणों – निमित्त, उपादान, और सहकारी कारण के सहयोग से उत्पन्न होती है। एक कुर्सी बढ़ई द्वारा अपने औजारों से लकड़ी पर कार्य करने का परिणाम है। उसी प्रकार जगत् निमित्त कारण रूप ईश्वर द्वारा अपने सहकारी कारण शक्ति से उपादान कारण रूप माया पर कार्य का परिणाम है। अन्य दर्शन अपने कारणता सिद्धान्त में सभी तीन कारणों को एक या दो में सीमित कर देते है। किन्तु शैव–सिद्धान्त ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानता है तथा माया को उपादान कारण मानता है। शैव–सिद्धान्त के अनुसार माया अविनाशी है जो केवल अपने रूप को परिवर्तित करती है और निरन्तर अस्तित्व में रहती है।

शैव–सिद्धान्ती माया को जगत् का प्रथम कारण मानता है, परन्तु अकेले माया इसके परिवर्तनों को सम्पादित कर लेने में सक्षम नहीं है। माया आचेतन है, इसलिए जगत् की सृष्टि के लिए ईश्वर आवश्यक है। जिस प्रकार घट कुम्भकार द्वारा मृत्तिका आदि से उत्पन्न एक कार्य है, वैसे ही तात्त्विक जगत् ईश्वर द्वारा माया से उत्पन्न एक कार्य है। घट जैसे कार्य के उत्पादन के लिये तीन कारण अपेक्षित हैं– प्रथम कारण (मृत्तिका), सहायक कारण (चक्र, दण्ड आदि) और निमित्त कारण (कुम्भ्कार)। उसी प्रकार जगत् के लिए माया, शक्ति और ईश्वर की आवश्यकता होती है। आत्मा भी चेतन है, परन्तु उसे जगत् का उत्पादन नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह ससीम है और इसे ज्ञान तब होता है जब माया द्वारा भौतिक और मानसिक साधन इसे प्रदान किया जाता है। माया को भी अन्तिम और निमित्त कारण नहीं कहा जा सकता क्योंकि जड़ जगत् का कारण होने से यह स्वयं चेतन नहीं है। इसलिए केवल ईश्वर ही बचता है जिसे जगत् का स्रष्टा कहा जा सकता है।

शिव को सृष्टि करने के लिए देश, काल की अपेक्षा नहीं होती है। ईश्वर को स्रष्टा मानने पर एक स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि कुम्भकार घट का निर्माण करते समय पृथ्वी पर स्थित होता है, परन्तु ईश्वर जगत् का निर्माण करने के लिए कहाँ स्थित हो सकता है? जगत् स्वयं अस्तित्व में नहीं आ जाता, इसे ईश्वर को सृष्ट करना पड़ता है। ईश्वर जगत् की रचना करने के लिए कहाँ स्थित होगा, यदि देश भी अस्तित्व में नहीं आया रहता। साधारणतः किसी वस्तु के अस्तित्व को वह कहाँ और कब है, के बिना नहीं सोचा जा सकता। इसलिए ईश्वर को भी अपना कार्य करने के लिए कहीं स्थित होना ही चाहिए। इस दृष्टि से देश को सृष्टि से पूर्व अस्तित्व में होना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि ईश्वर प्रत्येक जगह रहता है, तो हम पाते हैं कि जो कुछ भी प्रत्येक जगह के रूप में कहा जाता है, वह स्वयं ईश्वर द्वारा अस्तित्व में लाया जाता है। इस प्रकार ईश्वर सृष्टि नहीं कर सकता यदि उसे स्थित होने के लिए कोई देश पहले से नहीं है, किन्तु जब तक वह सृष्टि नहीं करता, कोई देश हो भी नहीं सकता। शैव–सिद्धान्त में शिव के लिए ये समस्यायें उत्पन्न ही नहीं हो सकतीं। उसकी कोई भौतिक संरचना नहीं है जिसे स्थित करने के लिए देश की अपेक्षा हो। काल अचेतन और जड़ है, इसलिए शिव के कार्यों को प्रभावित नहीं कर सकता। यह स्वयं शिव द्वारा सृष्ट है। शिव का कार्य देश काल में निर्धारित नहीं किया जा सकता। वह बिना देश और काल के ही देश और काल की सृष्टि कर सकता है। उसकी शक्ति कुछ भी कर सकने में समर्थ है। शिव के कार्यों की तुलना कुम्भकार के कार्यों से नहीं की जा सकती। कुम्भकार सीमित है और शिव द्वारा सृष्ट है तथा शिव की इच्छा से

प्रेरित हो कर ही घट जैसे कार्य का सम्पादन करता है। जो कुछ भी शक्तियाँ (सीमित शक्तियाँ) कुम्भकार में है, वह शिवद्वारा प्रदत्त है।

ईश्वर वाणी और विचार से परे है। इसे जगत् के सादृश्य के आधार पर नहीं समझा जा सकता। जगत् अस्तित्व में लाया जाता है, पालन किया जाता है, और समय पर नष्ट कर दिया जाता है। यहाँ इस प्रकार समय बिना स्वयं किसी वस्तु की सहायता प्राप्त किये इन सभी घटनाओं का कारण होते हुए उन सबकी सहायता करता है। ईश्वर की स्थिति भी इसी प्रकार समझा जा सकता है। शैव-सिद्धान्त सृष्टि की प्रक्रिया में समय की महत्ता को मानता है, परन्तु उसके लिए समय केवल सहायक कारण है। शैव-सिद्धान्त में काल स्वयं सृष्टि-विकास का एक तत्त्व है तथा सभी तत्त्वों के साथ यह भी नष्ट हो जाता है।

शैव-सिद्धान्ती काल का भूत, वर्तमान और भविष्य में विभाजन मानते हैं, परन्तु सृष्टि, स्थिति और संहार के कार्यों से ईश्वर प्रभावित नहीं होता। वे ईश्वर की अतिभौतिक और इन्द्रियातीत अवस्थितियाँ मानते हैं। जाग्रत, स्वप्न आदि की अवस्थाएँ आत्मा के लिए उत्पन्न होती हैं और रहती हैं। आत्मा इन अवस्थाओं का विषय हो जाता है और उनसे अनुबन्धित सा हो जाता है। इसी प्रकार ईश्वर जिनमें सम्पूर्ण विश्व मिल जाता है और जहाँ से वह पुनः उत्पन्न होता है, लय, भोग और अधिकार के विषय हो जाते हैं। परन्तु ईश्वर न तो इनसे प्रभावित होता है और न ही विभिन्न अवस्थाओं का विषय होने के लिए अनुबन्धित ही है। ईश्वर जगत् से केवल अपनी उपस्थिति और कार्य से सम्बन्धित है। किसी अन्य प्रकार का सम्बन्ध इस पर आरोपित नहीं किया जा सकता।

शिव की इच्छा से सृष्टि होती है। सभी परिवर्तन इच्छित परिवर्तन हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि सभी परिवर्तन इच्छा के सहज भाव से पैदा होते हैं। कार्य में कारण की व्याप्ति के प्रत्येक विषय में दो पक्ष होते हैं, एक संकल्प और दूसरा उपादान का रूपान्तरण। कुम्भकार की इच्छा को उसकी सृष्टि को व्याप्त करने वाला कहा जा सकता है। वह घट का निर्माण करने से इसके प्रत्यक्ष भाग को समझता है। यदि वह न समझता तो उसके द्वारा निर्मित घट पर्वत जितना बड़ा हो जाता। सत्कार्यवाद के अनुसार कारण कार्य में इस अर्थ में निरन्तर है कि चेतन निमित्त कारण उपादान में अन्तर्भूत है जैसे इच्छा ही कार्य में विकसित होती है। मृत्तिका उपादान कुम्भकार की बुद्धि और इच्छा के अनुसार ही घट आदि होता है। उपादान कारण शिव की उपस्थिति से कार्यों को विकसित करता है। इस प्रकार निमित्त कारण के पास ही कार्य के उत्पादन की सीधी कारणता

है।कारणता का वास्तविक गतिमान सिद्धान्त जो सत्कार्यवाद में माना गया है, वह चित् में अन्तर्विष्ट चित्-शक्ति है। सत्ता में अन्तर्भूत यही शक्ति है जो सृष्टि के कार्य के सम्पादन में कारण का कार्य करता है। इस प्रकार करण और कर्ता परस्पर सम्बन्धित हैं।

ईश्वर को स्रष्टा कहने पर प्रश्न होता है कि किस प्रकार अरूप ईश्वर सरूप जगत् को उत्पन्न करता है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार रूपहीन आकाश से दूसरे सरूप तत्त्व उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार रूपहीन ईश्वर से सरूप जगत् प्रकट होता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह कोई रूप ग्रहण नहीं कर सकता क्योंकि उसके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। वह सरूप, अरूप, और सरूप–अरूप दोनों है। वह जगत् के साथ एक है, जगत् से भिन्न है और जगत् के साथ एक तथा भिन्न दोनों है। वह पूर्णतया स्वतन्त्र और निर्मल है। वह अपनी इच्छा से कोई भी रूप ग्रहण कर सकता है।

शैव–सिद्धान्त शिव को केवल निमित्त कारण मानता है, परन्तु विशिष्ट अर्थों में अथवा कुछ विशिष्ट कारणों से उपादान कारण भी कहा जा सकता है। शिव को जगत् से परे और जगत् में अन्तर्भूत भी कहा गया है। शिव विश्वातीत है, परन्तु अपनी शक्ति के माध्यम से माया और जगत् के साथ सम्बन्ध बनाये रखता है। यह शक्ति जगत् की वस्तुओं को व्याप्त किये रहती है। इस शक्ति से शिव के उपादान कारणता की व्याख्या की जा सकती है। शैव–सिद्धान्त में माया को उपादान कारण माना गया है और शिव को माया का सञ्चालक अथवा स्वामी कहा गया है। शिव की इच्छा शक्ति से प्रेरित होकर ही माया जगत् का उत्पादन करती है। माया अकेले जगत् का उत्पादन नहीं कर सकती क्योंकि यह अचेतन है। इसलिए शिव की इच्छा शक्ति का संयोग आवश्यक है। परन्तु केवल संयोग मात्र से जगत् का उत्पादन नहीं होने लगेगा। शिव की इच्छा शक्ति को माया में अथवा माया के प्रत्येक कार्य में निरन्तर अन्तर्भूत रहना पड़ेगा। यद्यपि माया जगत् का उत्पादन करने में पूर्ण समर्थ है, परन्तु इस क्षमता का उपयोग शिव की शक्ति ही करती है। माया की निष्क्रिय अवस्था की क्षमता को क्षमता भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह कोई कार्य सम्पादित नहीं कर सकती। जब शिव की शक्ति इस क्षमता में अन्तर्भूत होती है, तभी यह सक्रिय हो पाती है। इस प्रकार वास्तविक क्षमता तो शिव की शक्ति ही है। एक दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि शिव की शक्ति माया के रूप में सृष्टि करती है। इस प्रकार शिव निमित्त कारण के रूप में तो आवश्यक है ही उपादान कारण की जीवनी शक्ति के रूप में भी आवश्यक है। इस प्रकार उपादान कारण

रूप में शिव की शक्ति का ही उपयोग होता है, इसलिए शिव को जगत् का उपादान कारण भी कहा जा सकता है।

सृष्टि के विकास–क्रम में माया त्रिविध रूप धारण करती है। ये रूप माया के विकास की तीन अवस्थायें हैं जिनके अनुसार सृष्टि के तत्त्वों का विकास होता है। सृष्टि के आरम्भ में माया की अतिसूक्ष्म अवस्था शुद्ध माया कही जाती है। इस अवस्था से यह परिवर्तित होती है और स्थूल अवस्था को प्राप्त करती है। इस अवस्था की माया अशुद्ध माया कही जाती है। इस अवस्था से पुनः स्थूलतर रूप धारण करने पर यह माया प्रकृति माया कही जाती है। शुद्ध माया में कर्म अथवा मल का समावेश नहीं होता। यह सुख उत्पन्न करती है। शुद्ध माया पूर्णज्ञान को उत्पन्न करती है तथा शुद्ध प्रपञ्च की उत्पत्ति इससे होती है। वाणी के चार प्रकार (वैखरी आदि) इससे उत्पन्न होते हैं। शुद्ध माया को बिन्दु कहा जाता है। इसके विकास में स्वयं शिव कर्ता हैं। यह शिव की परिग्रह शक्ति है। कर्म से मिश्रित होने के कारण अशुद्ध माया अशुद्ध है तथा इसे अधोमाया और मोहिनी भी कहा जाता है। अशुद्ध माया सुख और दुःख दोनों उत्पन्न करती है। इसके द्वारा अपूर्ण ज्ञान तथा अशुद्ध प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है। अशुद्ध माया भौतिक जगत् का उपादान कारण है तथा शाश्वत है यद्यपि इसके उत्पादन उत्पन्न और नष्ट होते हैं। यह एक है यद्यपि इसके घटक विभिन्न हैं। अरूप होने पर भी इसके विकास सरूप या अरूप दोनों हो सकते हैं। अशुद्ध माया से तनु, करण, भुवन, भोग, शरीर इन्द्रियाँ, जगत् और सकलों के लिए भोग के विषय उत्पन्न होते हैं। यद्यपि यह अशुद्ध है फिर भी आणव की अशुद्धता से आत्माओं को मुक्त करने में सहायता करती है। अशुद्ध माया वैसे ही अशुद्धता को दूर करती है जैसे बालू आदि से गन्दे वस्त्रों को साफ किया जाता है। माया और आणव के परस्पर विरोधी कार्य हैं। आणव आत्माओं को अज्ञानी बनाने के लिए उनके स्वरूप को तिरोहित करता है जबकि माया उन्हें प्रकाशित करती है। अशुद्ध माया के अशुद्ध होने के कारण शिव इस पर कार्य नहीं करता। अपनी शक्ति से वह शुद्ध माया में रहने वाले देवों को शक्ति मानकर शेष विकासों को करता है। सदाशिव अशुद्ध माया से काल, नियति और कला तथा इससे विद्या और राग उत्पन्न करता है। इससे उत्पन्न होने वाला ज्ञान यद्यपि भ्रामक होता है परन्तु यह आत्माओं के आणव की अशुद्धता को दूर करने में सक्षम है। अशुद्ध माया से उत्पन्न होने के कारण प्रकृति माया अशुद्ध है। यह सत्त्व, रजस और तमस् तीन गुणों से युक्त है तथा चौबीस गुण तत्त्वों को उत्पन्न करती है। इस अवस्था में ईश्वर द्वारा प्रदत्त शक्ति से सम्पन्न रूद्र कर्ता है।

शैव–सिद्धान्त में छत्तीस सृष्टि तत्त्व माने गये हैं जो तीन वर्गों में विभाजित हैं–आत्म तत्त्व, विद्या तत्त्व और शिव तत्त्व। आत्म तत्त्व आत्मा के निजी धर्म अथवा सम्पत्ति हैं। वे अकुत्त तत्तुवम (अशुद्ध तत्त्व) औ पोक्किय कान्तम (भोग के साधन) भी कहे जाते हैं। इस वर्ग में पञ्चमहाभूत, तन्मात्रायें, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ आती हैं। विद्या तत्त्व के वर्ग में काल, नियति और कला आदि आती हैं। शिव तत्त्व का वर्ग शिव की पाँच अभिव्यक्तियाँ हैं। पाँच शिव तत्त्व शुद्ध कहे गये हैं। ये तत्त्व शुद्ध माया से उत्पन्न होते हैं। कला आदि सात शुद्धाशुद्ध तत्त्व हैं। ये अशुद्ध माया से आते हैं। अशुद्ध माया को शुद्धाशुद्ध माया कहा गया है क्योंकि यह शुद्ध माया और प्रकृति माया के बीच रहता है। पुरुष तत्त्व से नीचे चौबीस तत्त्व प्रकृति माया कहे जाते हैं क्योंकि ये प्रकृति माया से उत्पन्न होते हैं। शुद्ध तत्त्व कला आदि तत्त्वों को आनन्द की ओर प्रवृत्त करने के साधन हैं। वे प्रेरक काण्ड कहे जाते हैं। शुद्धाशुद्ध तत्त्व आत्माओं के भोग का कारण होते हैं, इसलिए ये भोजयित्रि काण्ड कहे जाते हैं। चौबीस अशुद्ध तत्त्व अनन्त आत्माओं के आनन्द अनुभव के साधन हैं। ये भोग्यकाण्ड कहे जाते हैं।

सृष्टि के छत्तीस तत्त्व सृष्टि विकास के समय अपने कारण से खींच लिए जाते हैं। चौबीस तत्त्व पृथ्वी से आरम्भ कर मूल–प्रकृति तक श्रीकण्ठ रुद्र द्वारा लाये जाते हैं जो सभी प्रकार के आत्माओं के लिए नियत देव हैं। मूल प्रकृति से ऊपर छः तत्त्व अनन्त द्वारा लाये जाते हैं; विद्या, शुद्ध विद्या, ईश्वर और सादाख्य लय शिव द्वारा लाये जाते हैं। पुनः सृष्टि के समय ये तत्त्व अपने उचित कर्ताओं द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। शुद्ध शिव अकेले बिना उत्पत्ति और विनाश के शाश्वत हैं। लयशिव, अनन्त (भोगशिव) और श्रीकण्ठ रुद्र (अधिकार शिव) भी कुछ लोगों द्वारा शाश्वत कहे जाते हैं। परन्तु यह केवल लाक्षणिक कथन है।

सृष्टि– विकास के छत्तीस तत्त्व इस प्रकार हैं– १. शिव, २. शक्ति, ३.सदाशिव, ४. महेश्वर, ५. शुद्ध विद्या, ६. कार्य माया, ७. काल, ८. नियति, ९. कला, १०. विद्या, ११. राग, १२. पुरुष, १३. प्रकृति, १४–१६. अन्तःकरण (मन, बुद्धि एवं अहंकार), १७–२१. पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, (श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा और नाक), २२–२६. पञ्च कमेन्द्रियाँ जिह्वा (वाक्), पाद, हस्त, गुदा, जननेन्द्रिय) २७–३१. पञ्चतन्मात्रायें (शब्द, स्पर्श, रूप, स्वाद और गन्ध) ३२–३६. पॉच महाभूत। (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश)।

ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर ही जगत् का स्रष्टा है। ईश्वर का जगत् कर्तृत्व सामान्य न होकर विशेष प्रकार का माना गया है। सामान्यतः किसी कार्य के उत्पादन

में निमित्त कारण, सहकारी कारण तथा उपादान कारण की आवश्यक पड़ती है। उदाहरण के लिए कुम्भकार को घट का निर्माता या कर्ता कहा जाता है। कुम्भकार घट का निर्माण मृत्तिका से करता है अतः मृत्तिका घट का उपादान कारण है तथा दण्ड आदि सहकारी कारण हैं। ईसाई मान्यता के अनुसार जगत् की सृष्टि करने के लिए ईश्वर को उपादान अथवा निमित्त या सहकारी कारण की आवश्यकता नहीं पड़ती। सृष्टि ईश्वर की इच्छा मात्र का परिणाम है। जगत् की सृष्टि करने में ईसाई प्रयोजन का होना मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर सृष्टि द्वारा कुछ पाना नहीं चाहता। वह अपने प्रेम के कारण जगत् की सृष्टि करता है। ईश्वर प्रेम स्वरूप है। प्रेम का उल्लास ही सृष्टि का कारण है। ईश्वर जगत् की सृष्टि मनुष्य के लिए करता है। वह चाहता है कि मनुष्य जगत् में रहकर अपनी पूर्णता को जाने तथा उसे पाने के लिए प्रयास करे। इसके अतिरिक्त ईसाई धर्म में जगत् को कालिक माना गया है। इसके अनुसार किसी काल में जगत् का निर्माण हुआ। ईसाई यह मानते हैं कि उत्पत्ति के पूर्व जगत् का पूर्णतया अभाव था। इसके अतिरिक्त ईसाई धर्म में जगत् का क्रमिक निर्माण माना गया है। ईश्वर ने किसी तत्त्व को पहले, उसके पश्चात् दूसरे, तीसरे तत्त्व को उत्पन्न किया। इस प्रकार पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, समुद्र, पर्वत आदि का निर्माण क्रमशः हुआ।

बाइबिल में और ईसाई धर्म के इतिहास में ईश्वर को जगत् का स्रष्टा कहने के साथ–साथ इसका उद्धारकर्ता कहा गया है। ईश्वर के अलावा जो कुछ भी है वह ईश्वर की सृष्टि है। ईश्वर ने सबको बनाया है। ईश्वर को स्रष्टा तथा उसके साथ–साथ उद्धारक कहने का ईसाई धर्म में विशेष तात्पर्य अथवा अर्थ है। स्रष्टा कहने का यह तात्पर्य है कि ईश्वर देश काल की सीमाओं से परे है। वह असीम तथा अनन्त है। जगत् की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। उसका अस्तित्व ईश्वर पर निर्भर है। वह है क्योंकि ईश्वर ने उसे बनाया है। वह टिका है क्योंकि ईश्वर उसे टिकाये हुए है। यह जगत् कब निर्मित हुआ तथा कैसे निर्मित हुआ इस विषय में कोई स्पष्ट अवधारणा ईसाई धर्म में प्रचलित नहीं है। बाइबिल में भी इसके विषय में कोई निश्चित कथन नहीं मिलता है। बाइबिल के पहले दो अध्यायों में, जिन्हें सृष्टि–उत्पत्ति कथा (जेनेसिस) कहा जाता है, इस सम्बन्ध में कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है किन्तु किसी स्पष्ट अन्त्रधारणा के निर्माण में इससे कोई महत्वपूर्ण सहायता नहीं मिलती। वहाँ कहा गया है कि आरम्भ में जगत् को ईश्वर ने बनाया। कहने का तात्पर्य यह है कि ईसाई धर्म के अनुसार संसार जैसा है वैसा ही ईश्वर निर्मित है। ईश्वर को

जगत् का निर्माता कहा गया है। जगत् के तत्त्वों के विषय में कोई विश्लेषणात्मक विवरण नहीं मिलता।

ईसाई धर्म की यह विशेष मान्यता है कि ईश्वर ने जगत् का निर्माण किया तथा वह हमेशा इस जगत् में कार्य करता रहता है। ईश्वर इस जगत् में अविश्रान्त भाव से तथा अनवरत कार्यरत है। यहूदी धर्म में यह अवधारणा है कि ईश्वर ने जगत् को छः दिन में बनाया तथा सातवें दिन विश्राम किया। इस प्रकार की कोई मान्यता ईसाई धर्म में प्रचलित नहीं है। इसके अनुसार ईश्वर सदा कार्यरत रहता है। ईश्वर सदैव जगत् का नवनिर्माण तथा सुधार कार्य करता रहता है। वह निर्माण की हुई वस्तु की रक्षा अथवा उसका पालन एवं विकास कार्य करता रहता है। ईसाई ईश्वर को जगत् की नींव मानते हैं। उनका विश्वास है कि यदि ईश्वर इस जगत् से अपना हाथ हटा ले तो यह जगत् अपने अस्तित्व में ही नहीं रहेगा। ईश्वर ही इस जगत् का आधार है। ईसाई धर्म के अनुसार जगत् चैतन्यमय तथा गतिशील है, यह विकासशील तथा प्रगतिशील है। ईश्वर की इच्छा इस संसार को चलाती है। इस संसार का एक सुनिश्चित उद्देश्य है तथा यह उसी ईश्वर निर्मित आदर्श की ओर जा रहा है। बाइबिल में विश्वोत्पत्ति के पूर्व की स्थिति का वर्णन किया गया है जिसके अनुसार उस समय चारों ओर अव्यवस्था ही दिखाई पड़ती थी। आदि में कुछ भी नहीं था, सिर्फ परमेश्वर ही विद्यमान था तथा परमेश्वर भी आत्मा के रूप में था। आदि स्थिति के वर्णन में कहा गया है, "अथाह गर्त पर अन्धकार छाया हुआ था और ईश्वर की आत्मा सागर पर विचरती थी।"[१] उसी आत्मा के प्रभाव से विश्व की उत्पत्ति हुई।

जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बाइबिल में दो प्रकार के वर्णन मिलते हैं। एक वर्णन में जगत् की रचना को मानव की उत्पत्ति के दृष्टिकोण से प्रतिपादित किया गया है जिसके अनुसार संसार ईडेन गार्डेन जैसा रमणीय स्थान है जो मनुष्य की सुविधा के लिए बना है।[२] दूसरे प्रकार के वर्णन में विश्व मण्डल के सब प्रकार के तत्त्वों की सृष्टि का उल्लेख है।[३] इसके अनुसार सृष्टि का उद्देश्य आदि दुर्व्यवस्था से जगत् की वर्तमान सुव्यवस्था का निर्माण करना है। इस प्रकार क्रमशः दिन का रात से और पृथ्वी का सागर से पृथक्करण हुआ। कालक्रम के द्योतक नक्षत्र का

---

१. उत्पत्ति ग्रन्थ, १/२.

२. उत्पत्ति ग्रन्थ, २/४/२५.

३. वही, १/१-४.

निर्धारण और उनके अपने-अपने निवास स्थान के अनुसार जीव-जन्तुओं का सर्जन हुआ। मानव सबसे अन्त में उत्पन्न हुआ। विश्व के सभी प्राणियों में मानव सबसे महत्वपूर्ण प्राणी है। उसी की सुविधा के लिए सब कुछ बनाया गया है। ऐसी ईसाई धर्म की मान्यता है। एक वर्णन के अनुसार सृष्टिकर्ता ईश्वर ने मानव और जीव-जन्तुओं को मिट्टी से बनाया।[1] एक दूसरे वर्णन के अनुसार ईश्वर ने शब्द की शक्ति मात्र से सब कुछ सृष्टि कर दिया।[2] इसके अनुसार परमेश्वर ने अपने शब्द मात्र से विश्वमण्डल की सृष्टि कर दिया। परमेश्वर ने शब्द मात्र से ही सूर्य और चन्द्रमा, पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं की सृष्टि किया। ईश्वर ने कहा प्रकाश हो जाय और प्रकाश हो गया।[3] इसी प्रकार ईश्वर ने अन्य सभी वस्तुओं को हो जाने के लिए आदेश दिया और सारी वस्तुएँ सृष्ट हो गयीं।

ईसाई धर्म में ऐसी अवधारणा भी प्रचलित है कि ईश्वर ने शून्य से जगत् की सृष्टि की। एक वर्णन के अनुसार, ईश्वर ने उन्हें (अर्थात् आकाश और पृथ्वी को) ऐसे तत्त्वों से सृष्ट नहीं किया जिनका प्राग्भाव था। अर्थात् सृष्टिकर्ता ने किसी प्रदत्त सामग्री या उपादान का प्रयोग नहीं किया, जैसे कुम्हार मिट्टी का करता है। परमेश्वर ने किसी वास्तविक तत्त्व से नहीं 'शून्य' से सृष्टि की।शून्य से सृष्टि करने की अनेक तरह से व्याख्यायें की जाती हैं। किसी के अनुसार सृष्टि शून्य से स्वयं ही उत्पन्न हो गई बिना किसी सृष्टिकर्ता के। इस व्याख्या पर यह कह कर आक्षेप किया जा सकता है कि असत् से सत् उत्पन्न नहीं हो सकता। एक दूसरी व्याख्या के अनुसार यह कहा जाता है कि ईश्वर ने ही शून्य से सृष्टि की। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि शून्य जैसा कोई उपादान होता हो जिससे सृष्टि की जाती है। अर्थात् शून्य कोई अदृष्ट अथवा सूक्ष्मतम पदार्थ हो। किन्तू शून्य का यह तात्पर्य नहीं है। शून्य का अर्थ है कुछ नहीं अथवा बिल्कुल नहीं, सूक्ष्मतम पदार्थ भी नहीं। ऐसी स्थिति में प्रश्न हो सकता है कि 'कुछ नहीं' से कोई सृष्टि कैसे हो सकती है, यह तो असत् ही कहा जायेगा। ईसाई परम्परा में शून्य से सृष्टि होने का तात्पर्य यही हो सकता है कि परमेश्वर ने बिना किसी उपादान की सहायता से ही जगत् की सृष्टि किया। योहन फाइस के अनुसार, "शून्य से सृष्टि का सिद्धान्त किसी भी उपादान का प्राग्भाव अस्वीकार करता है, वह कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो। किन्तु ध्यान देने योग्य बात है कि पूर्ववर्ती उपादान का निषेध मात्र पर्याप्त नहीं

---

१. उत्पत्ति ग्रन्थ, २/७/१९.

२. वही, १/२/४.

३. वही, १/३.

होगा, क्योंकि इस दृष्टि से यह कल्पना की जा सकती है कि सृष्टिकर्ता ने पहले आवश्यक सामग्री को सृष्ट किया, बाद में उसमें से भिन्न-भिन्न तत्त्वों को गढ़ा। कल्पना इसलिए भ्रान्त है कि वह सृष्टिकार्य को दो अवस्थाओं के क्रम में विभाजित करती है। इसके लिए विपरीत लोकातीत होने से सृष्टिकर्ता कालातीत भी है। फलतः उसके सृष्टिकार्य को कालिक प्रक्रिया नहीं माना जा सकता है।''[1]

शैव-सिद्धान्त तथा ईसाई धर्म के सृष्टि सम्बन्धी अवधारणा पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह पाया जाता है कि सृष्टि को सप्रयोजन दोनों ही धर्मों में माना गया है। दोनों ही धर्मों के अनुसार ईश्वर जगत् का स्रष्टा है तथा ईश्वर ने एक विशेष प्रयोजन से जगत् की सृष्टि किया है। दोनों धर्मों के अनुसार ईश्वर परम दयालु तथा कृपालु एवं प्रेम स्वरूप है। ईश्वर ने आत्माओं की भलाई करने के लिए अथवा उनका उद्धार करने के लिए जगत् की सृष्टि किया है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि द्वारा आत्माओं को शरीर, ज्ञानेन्द्रिय आदि साधन प्राप्त कराये जाते हैं जिनकी सहायता से कर्म करके आत्मा मोक्ष प्राप्त करता है।

ईसाई धर्म की मान्यताओं के अनुसार ईश्वर ने जगत् की सृष्टि शून्य से की। इस प्रकार जगत् की सृष्टि के लिए किसी उपादान कारण की आवश्यकता को ईसाई धर्म में नहीं माना गया है। शैव-सिद्धान्त धर्म में जगत् के उपादान कारण के रूप में माया को माना गया है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार पति (ईश्वर), पशु (आत्मा) और पाश (माया) ये तीन नित्य एवं शाश्वत तत्त्व हैं। माया जगत् का उपादान कारण है। ईश्वर माया को अपनी शक्ति द्वारा व्याप्त कर के जगत् की सृष्टि करता है। इस प्रकार उपादान कारण के द्वारा जगत् की सृष्टि की जाती है। शैव-सिद्धान्त तथा ईसाई दोनों ही धर्मों में जगत् को सत्य माना गया है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार जगत् सत्य अथवा यथार्थ है क्योंकि यह सत्य अथवा यथार्थ उपादान कारण माया द्वारा निर्मित है। ईसाई धर्म के अनुसार जगत् की उत्पत्ति शून्य से हुई है अर्थात् ईश्वर की इच्छा मात्र से हुई है। इस दृष्टि से तर्कतः जगत् को असत्य अथवा काल्पनिक अथवा अध्यास रूप अथवा प्रत्यय रूप होना चाहिए जैसा कि भारतीय परम्परा के अद्वैत-वेदान्त दर्शन एवं काश्मीर शैव दर्शन में माना गया है। ईसाई धर्म जगत् को काल्पनिक अथवा प्रत्ययरूप न मान कर इसे सत्य अथवा यथार्थ मानता है। इसके अनुसार जगत् सत्य है क्योंकि यह ईश्वर की रचना है। ईश्वर सत्य है इसलिये उसके द्वारा की गई रचना निर्विवाद रूप से सत्य है।

---

१. योहन फाइस, ईसाई दर्शन, पृ० १७७.

शैव-सिद्धान्त तथा ईसाई धर्म दोनों ही जगत् की साधनरूपता को मानते हैं। दोनों ही धर्मों में यह बात मानी गई है कि जगत् साधनरूप है, साध्य रूप नहीं। दोनों धर्म इस बात को मानते हैं कि जगत् में कर्म करके अनुभव प्राप्त करने तथा अपनी पूर्णता अथवा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करने के लिए प्रयास कर सके। जगत् को कर्मक्षेत्र के रूप में माना गया है। मनुष्य जगत् में कर्म करते हुए सुख-दुःख का अनुभव करता है तथा इस प्रकार उसे जगत् की वास्तविकता का ज्ञान होता है। वह इस बात को समझता है कि जगत् में प्राप्त सुख ही उसका लक्ष्य नहीं है। उसका लक्ष्य परम पद की प्राप्ति है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार यह शिव सायुज्य की प्राप्ति है तो ईसाई धर्म के अनुसार यह स्वर्ग में ईश्वर का सानिध्य प्राप्त करता है। इस प्रकार शैव-सिद्धान्त तथा ईसाई दोनों धर्मों में गृहस्थ जीवन को उचित, महत्वपूर्ण तथा श्रेयस्कर माना गया है। दोनों ही धर्मों में जगत् अथवा जागतिक जीवन को त्यागने की बात नहीं मिलती।

शैव-सिद्धान्त तथा ईसाई दोनों ही धर्मों में जगत् को सृष्टि, स्थिति तथा संहार के लिए ईश्वर पर आश्रित माना गया है। दोनों ही धर्मों के अनुसार ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है, जगत् का पालन करता है तथा जगत् का संहार करता है। जगत् ईश्वर की सृष्टि है किन्तु नित्य नहीं है। जगत् ईश्वर द्वारा बनाये गये नियम के अनुसार ही सञ्चालित होता है। ईश्वर जगत् से परे है तथा जगत् में अन्तर्भूत भी है। ईश्वर जगत् में सदैव उपस्थित रहता है। इस बात को लेकर शैव-सिद्धान्त तथा ईसाई धर्मों में समानता देखी जा सकती है।

८. कर्म और पुनर्जन्म अथवा पुनरुत्थान

शैव–सिद्धान्त धर्म के अनुसार एक ही जीवन पूर्व कर्मों के फल को भोगने के लिए पर्याप्त नहीं होता, इसलिए व्यक्ति को एक जन्म से दूसरे जन्म में जाना पड़ता है। आत्मा भोग के लिए कर्म करता है और कर्म के लिए भोग करता है और इसलिए कर्म और भोग के लिए बार–बार जन्म लेता है। यह पूर्व कर्मों के फल पाने के लिए शरीर ग्रहण करता है। यह जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त, नवीन कार्य करता रहता है और कर्मों का ढेर संचित करता है जिसके फल के लिए इसे फिर यह प्रक्रिया दुहरानी पड़ती है। इस प्रकार कर्म–नियम से सम्बन्धित पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी शैव–सिद्धान्त को ग्राह्य है।

इस सन्दर्भ में कुछ दर्शन ऐसे हैं जो कोई कर्म का नियम नहीं मानते। कुछ इस प्रकार के दर्शन हैं जो कर्म का नियम तो मानते हैं, परन्तु इसका कोई नियन्ता नहीं मानते अर्थात् इसके सञ्चालन के लिए ईश्वर को आवश्यक नहीं मानते। शैव–सिद्धान्त कर्म का नियम मानता है और इसका नियन्ता ईश्वर का होना आवश्यक मानता है। लोकायत किसी भी प्रकार का कर्म का नियम नहीं मानते। उनके अनुसार वर्तमान जीवन को प्रभावित करने वाला कोई पूर्व कर्म नहीं होता। वह आत्मा में विश्वास नहीं करते। इसलिए वह मानते हैं कि हमारे वर्तमान सुख और दुख स्वाभाविक हैं तथा पूर्वजन्म में किये गये कर्मों को मानने की आवश्यकता नहीं है। पूर्वजन्म या पूर्व कर्म को मानने का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। इसलिए भी उन्हें मानना मूर्खतापूर्ण है।

शैव–सिद्धान्त धर्म के अनुसार लोकायत दृष्टिकोण उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि सुख और दुख हमारे लिए स्वाभाविक नहीं हो सकते। सुख और दुख एक दूसरे के विरोधी हैं। इस प्रकार के विरोधी गुण एक प्राणी के लिए स्वाभाविक नहीं हो सकते हैं। अपने पक्ष के समर्थन में लोकायत कह सकते हैं कि जैसे जल फूलों के सम्पर्क में सुगन्धित हो जाता है या अग्नि का प्रयोग करने पर यह गर्म हो जाता है वैसे ही व्यक्ति सुखदायक और कष्टदायक वस्तुओं के सम्पर्क से सुखी अथवा दुखी हो जाता है। यह भी अमान्य है क्योंकि जल सुगन्धित या गर्म अपने से नहीं हो जाता, परन्तु पुष्प या अग्नि के सम्पर्क होने से होता है। सुगन्ध पुष्प के स्वरूप से सम्बन्धित है, न कि जल से। उष्मा अग्नि का गुण है, जल का नहीं। इस प्रकार

एक वस्तु की प्रकृति परिवर्तित नहीं होती, न ही यह विरोधी गुण सन्निहित करता है। सुख और दुःख परस्पर विरोधी युग्म हैं। इसलिए यह मानना चाहिए कि वे कर्म के विभिन्न पक्षों से उत्पन्न होते हैं। लोकायत पुनर्जन्म की सम्भावना का निषेध करते हुए कहता है कि इस जन्म के सुख और दुःख की व्याख्या इसी जीवन में हो सकती है, इसलिए एक पूर्वजन्म के मान्यता की आवश्यकता नहीं है। हम इस जगत् में देखते हैं कि वह जो परिश्रमी है, सुखी है, जबकि वह जो आलसी है, दुखी है। सम्पत्ति कठिन परिश्रम का परिणाम है। आलस्य का प्रतिफल कष्ट है। यदि यह सत्य है कि पूर्वजन्म के कर्म व्यक्ति के वर्तमान स्तर को प्रभावित करते हैं तो उन्हें बिना प्रयास के सम्पत्तिशाली होना सम्भव नहीं होना चाहिए।

शैव–सिद्धान्ती लोकायत दृष्टिकोण की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि कर्मों की व्याख्या एक ही जन्म से नहीं हो सकती। कुछ व्यक्ति जन्म से धनी हैं और दूसरे जन्म से गरीब। कुछ व्यक्ति के पास जन्म–जात दोष हैं और कुछ इनसे मुक्त हैं। कुछ की परिस्थितयाँ सुखदायी हैं तो कुछ की कष्टपूर्ण। इन विषमताओं की व्याख्या बिना एक पूर्वजन्म को माने नहीं हो सकती। वर्तमान विषमताओं की व्याख्या कर्ता के पूर्व जन्म में किऐ गए कर्मों के सन्दर्भ में ही की जा सकती है। यदि किसी विषय में अच्छाई और खुशी का ठीक समायोजन नहीं हो पाता तो हम एक भविष्य के जीवन को मान्यता देना पड़ता है जहाँ यह समायोजन होगा। कर्म और पुनर्जन्म अन्तर्सम्बन्धित सिद्धान्त हैं। एक की व्याख्या करने में हमें दूसरे की अपेक्षा होती है। इसलिए हम मानते हैं कि आत्माओं के अनुभव के बीज वर्तमान जीवन के पूर्व पहले से ही रहते हैं। प्राप्ति और खोना, सुख और दुःख, सम्मान और असम्मान ये सभी शक्ति रूप में गर्भ में रहते हैं। शिशु इन सभी के साथ अपने संस्कार रूप में पैदा होता है और जैसे यह बढ़ता है, वे स्वयं को अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकार जो पूर्वजन्म में अर्जित रहता है, इस जन्म में फलित होता है। समानतः वर्तमान शरीर के वे कर्म जो वर्तमान जीवन में भोगे नहीं गये हैं, एक अन्य जीवन में भोगे जायेंगे। इस प्रकार कर्म और पुनर्जन्म अन्तर्सम्बन्धित हैं। कर्म का निषेध करना सम्भव नहीं है और यदि कर्म स्वीकार्य है तो वैसे ही पुनर्जन्म भी स्वीकार्य है।

मीमांसक कर्म–नियम तो मानते हैं परन्तु इसके सञ्चालन के लिए ईश्वर को आवश्यक नहीं मानते। उनके अनुसार कर्म स्वयं अपना परिणाम उत्पन्न कर सकते हैं। अच्छे कर्म का अच्छा परिणाम होता है और बुरे कर्म का बुरा परिणाम होता है। जब अशुभ के तथ्यों की व्याख्या धर्म और अधर्म के सन्दर्भ में हो सकती है तो मीमांसकों के लिए ईश्वर को मानना तर्क संगत नहीं है। परन्तु यहाँ प्रश्न हो

सकता है कि किस प्रकार कर्म जो सम्पादित होते ही नष्ट हो जाते हैं भविष्य में फलों को उत्पन्न कर सकते है? मीमांसक यह कह कर उत्तर दे सकते हैं कि कर्म अपना परिणाम अपने नष्ट होने के बाद उत्पन्न कर सकते हैं जैसे खाद या दवा नष्ट हो जाती है और फिर बाद में फलित होती है। परन्तु यह कहना उचित नहीं है क्योंकि खाद या दवा जिस अर्थ में नष्ट होते हैं, उस अर्थ में कर्म नष्ट नहीं होते। यदि कर्म को भी उसी अर्थ में नष्ट होना माना जाय जिसमें खाद या दवा नष्ट होते हैं तो खाद या दवा उसी स्थान पर अपना परिणाम उत्पन्न करते हैं, जहाँ वे नष्ट होते हैं। परन्तु कर्म के साथ ऐसा नहीं है। कर्म इस जगत् में किये जाते हैं, यथा तर्पण जल में प्रदान किया जाता है, हविष अग्नि में और दिया गया दान यहीं नष्ट हो जाते हैं। किस प्रकार ये कर्म जो इस जगत् में सम्पादित किये जाते हैं और सम्पादित होते ही नष्ट हो जाते हैं, दूसरे जगत् अथवा स्वर्ग में या भविष्य में सुख उत्पन्न करते हैं? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि कर्म अपना प्रभाव कर्ता के मन पर छोड़ते हैं और इन प्रभावों के कारण ही वे बाद में फलित होते हैं। परन्तु यदि ऐसा है तो स्वर्ग, नरक, पृथ्वी आदि मन में रहना चाहिए क्योंकि मन में ही ये स्वर्गिक या नारकीय भोग हो सकते हैं। मीमांसक यह विचार नहीं मान सकते क्योंकि यह मानना विषयवादिता को स्वीकार करना होगा। यदि स्वर्ग आदि शुद्ध और सामान्य कल्पनायें हैं तो कौन त्याग करेगा जो अत्यन्त कष्टप्रद है।

शैव–सिद्धान्त की दृष्टि में मीमांसक द्वारा दी गई कर्म–नियम की व्याख्या सन्तोषप्रद नहीं हो सकती। कर्म अपने सम्पादन के साथ नष्ट हो जाते हैं। कर्म के नष्ट होने के साथ ही उससे सम्बन्धित सभी वस्तुएँ, यथा दान और दाता, पिण्डदान और प्राप्त करने वाला नष्ट हो जाते हैं। फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि कर्म–नियम कार्य करता है। किन्तु बिना एक चेतन निर्देशक के यह कार्य नहीं कर सकता। यदि नियम बनाने वाला नहीं है तो कोई नियम हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार यह निमय कार्य भी नहीं कर सकता यदि इसका नियन्ता नहीं है। कर्म–नियम के नियन्ता की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए शैव–सिद्धान्त कहता है कि आत्माओं और शरीरों के बीच एक संयोजन होना चाहिए। यह आत्माओं को उनके मल से मुक्त करने के लिए आवश्यक है। आत्माओं को शरीर से मुक्त करने का कार्य जड़ पदार्थ द्वारा सम्पादित नहीं किया जा सकता। न तो आत्मा ही अपने अनुसार शरीर चुन सकते हैं। इसलिए आत्माओं को शरीर से मुक्त करने के लिए एक सत्ता होनी चाहिए जो न तो जड़ हो और न ही संसार का विषय। वह सत्ता ईश्वर ही हो सकता है।

शैव–सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि आत्मा कर्मनियम द्वारा नियन्त्रित होते हैं, परन्तु कर्म स्वयं सञ्चालित नहीं हो सकते क्योंकि ये अचेतन हैं। न ही शरीर से अलग हुए आत्मा अपना उचित कर्म ही चुन सकते हैं। इसलिए एक ऐसी सत्ता होनी चाहिए जो कर्म का प्राणी न हो और जो कर्म–नियम सञ्चालित करने की चेतना रखता हो। आत्मा के कर्मों का निर्धारण बिना एक न्याय कर्ता के नहीं हो सकता, वह न्यायकर्ता ईश्वर है। आत्मा के भोग, इसके शरीर, ज्ञानेन्द्रियों, देश, काल, कार्य और विषय के संयोजन से अनुबन्धित हैं। ये सभी अचेतन हैं और अपने सहयोगी को चुन नहीं सकते। एक शरीर–संरचना भी आत्मा और जगत् का चुनाव नहीं कर सकती। ससीम आत्मा भी अपना शरीर नहीं चुन सकता क्योंकि यह मल से आवृत है और इस कारण इसकी चेतना सीमित है। इस प्रकार केवल यही माना जा सकता है कि ईश्वर कर्म–नियम सञ्चालित करता है। वही आत्मा और भोग के साधनों तथा भोग के विषयों में एकता स्थापित करता है। कर्म उसके आदेश से कार्य करते हैं।

इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि इस कर्म–नियम का शिव के अनुग्रह स्वरूप से कोई तार्किक विरोध नहीं है। कर्म–नियम के अनुसार बुरा कर्म करने वाला व्यक्ति दण्डित होता है अर्थात् कष्ट सहता है। शिव को अनुग्रह स्वरूप कहने का तात्पर्य यह है कि शिव आत्माओं को प्रेम करता है। यहाँ एक द्वन्द्वात्मक प्रश्न उठ सकता है कि यदि शिव आत्माओं को दण्डित करता है तो इसका तात्पर्य यह होगा कि वह आत्माओं को प्रेम नहीं करता। यदि वह आत्माओं को प्रेमकरता है तो कर्म–नियम के अनुसार उन्हें दण्डित नहीं कर सकता क्योंकि आत्माओं को कष्ट देना उसके प्रेम स्वरूप के विरुद्ध होगा। इसका समाधान करते हुए शैव–सिद्धान्ती कहते हैं कि ईश्वर का न्याय और प्रेम तदनुरूप है। अपने प्रेम के कारण ईश्वर अच्छे को पुरस्कृत करता है और उसी प्रेम के ही कारण पापी को दण्डित भी करता है। यहाँ दण्ड भी दया–कार्य माना गया है। यदि एक माँ अपने बच्चे को प्रताड़ित करती है तो यह उस बच्चे के भलाई के लिए ही है। इसी प्रकार एक उद्दण्ड (दुर्दान्त) आत्मा के लिए ईश्वर द्वारा किया गया दण्ड आत्मा की भलाई के लिये है। ईश्वर प्रेम है और कर्म–नियम प्रेम प्रदान का सिद्धान्त है।

ईसाई धर्म में कर्म–नियम तो माना गया है किन्तु इसके साथ पुनर्जन्म की अवधारणा को नहीं माना गया है। इसके अतिरिक्त ईसाई धर्म में प्रचलित मानव धारणा एकात्मक है। इसके अनुसार आत्मा और शरीर मानव–ढांचे के भिन्न–भिन्न अवयव नहीं है, बल्कि समष्टि के पहलू मात्र हैं। मानव की एकता के दृष्टि से

शरीर की अपेक्षा केवल आत्मा की अमरता ईसाई परम्परा में अमान्य है। सम्पूर्ण मानव का मृत्यु के बाद फिर जी उठना ईसाई शब्दावली में 'पुनरुत्थान' कहा जाता है। पुनरुत्थान की अवधारणा पुनर्जन्म की अवधारणा से भिन्न है। पुनर्जन्म के अनुसार शरीर के मरणशील होते हुए भी, आत्मा अमर बनी रहती है। आत्मा संसार में ही फिर नया शरीर धारण करती है। पुनर्जन्म की बारम्बार आवृत्ति होती है। इसके विपरीत बाइबिल के अनुसार, सम्पूर्ण मानव को शरीर और आत्मा के साथ मृत्यु से फिर जिलाया जाता है, पुनरुत्थान इहलोक में नहीं परलोक में होता है। फलतः वह एक बार ही हो सकता है। दानिएल नबी ने यह लिखा है कि, 'जो लोग पृथ्वी की मिट्टी में सोए हुए हैं, वे बड़ी संख्या में जाग जाएंगे, कुछ अनन्त जीवन के लिए और कुछ अनन्त काल तक तिरस्कृत और कलंकित होने के लिए।'[१] इस उद्धरण में मिट्टी के उल्लेख से स्पष्ट है कि शरीर को भी जिलाया जाता है। वह तो मिट्टी से ही गढ़ा हुआ है और फलतः मृत्यु के पश्चात् इसी में विलीन हो जाता है। फिर, धर्मियों को और अधर्मियों को भिन्न-भिन्न पारलौकिक भाग्य मिलता है। पुनरुत्थान की आवृत्ति नहीं हो सकती है। मानव तो अनन्त काल तक नव-जीवन प्राप्त करता है। एक उद्धरण के अनुसार, 'संसार का राजा (अर्थात् परमेश्वर), जिसके नियमों के लिए हम मर रहे हैं, हमें पुनर्जीवित कर अनन्त जीवन प्रदान करेगा।'[२] इससे एक बात यह स्पष्ट है कि पुनरुत्थान मानव की शक्ति से नहीं, परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता से ही सम्भव है। उसी ने तो सृष्टि की थी, इसलिए वही पुनः सृष्टि भी कर सकता है। शारीरिक पुनरुत्थान का स्पष्ट उल्लेख भी मिलता है, 'ईश्वर की ओर से मुझे ये अङ्ग मिले (अर्थात्, शारीरिक अंग)......., मेरा विश्वास है कि ईश्वर इन्हें मुझ को लौटा देगा।'[३] किन्तु इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि अमर आत्मा को नवीन शरीर मिलेगा। पुनरुत्थान सम्पूर्ण मानव को अमरता की देन है, उसके शरीर को भी, आत्मा को भी।

शैव-सिद्धान्त तथा ईसाई धर्म दोनों ही कर्म-नियम को मानते हैं तथा इसके नियन्ता के रूप में ईश्वर को मानते हैं। इसके अनुसार सभी मनुष्यों को अपने कर्मो का फल भोगता पड़ता है। अच्छे कर्मों का फल सुख के रूप में तथा बुरे कर्मो का फल दुःख के रूप में प्राप्त होता है। सभी मनुष्यों को उनके कर्मों का फल ईश्वर ही उन्हें प्रदान करता है। ईश्वर सर्वज्ञ है, वह सबके कर्मो को जानता है तथा उसके

१. दानिएल का ग्रन्थ १२/२.

२. मक्काबियों का दूसरा ग्रन्थ, ७/९.

३. वही, ७/११.

अनुसार उन्हें कर्म-फल प्रदान करता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार कर्म के फल का भोग वर्तमान जीवन में तो चलता ही है मनुष्य को कर्म फल भोगने के लिए तब तक जन्म और पुनर्जन्म के चक्र में पड़े रहना पड़ता है जब तक कि उसके सारे कर्मों का फल क्षीण नहीं हो जाता अथवा उसे मुक्ति नहीं प्राप्त हो जाती। ईसाई धर्म में पुनर्जन्म की अवधारणा नहीं है। वहाँ पुनरुत्थान की अवधारणा है। इसके अनुसार 'निर्णय के दिन' (Day of judgement) सभी मनुष्य (मृत्योपरान्त) ईश्वर के समक्ष उपस्थित होते हैं। जहाँ उनके कर्मों के अनुसार उन्हें स्वर्ग अथवा नर्क में स्थान दिया जाता है। स्वर्ग में सुख तथा नर्क में दुःख एवं कष्ट की प्राप्ति होती है। शैव-सिद्धान्त की दृष्टि से विचार करें तो इस प्रकार जीवन में किये गये कर्मों के अनुसार सुख-दुःख की प्राप्ति की व्याख्या तो एक प्रकार से हो जाती है किन्तु उस सुख-दुःख की व्याख्या किस प्रकार की जा सकेगी जो मनुष्य जन्म ग्रहण के समय से अर्थात् बिना कर्म किये ही भोगता है। बच्चा जन्म के समय में सुख-दुःख की अनुभूति करता है तथा इस सन्दर्भ में विभिन्नतायें देखी जाती हैं। कोई बच्चा अच्छे, धनी साधनसम्पन्न घर में जन्म ग्रहण करता है तो कोई बुरे, गरीब, अन्धा, लँगड़ा, अनाथ के रूप में जन्म ग्रहण करता है तथा तदनुरूप सुख-दुःख भोगता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार बिना पूर्वजन्म की कल्पना किये इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। ईसाई धर्म पुनर्जन्म की अवधारणा को नहीं मानता। इसके अनुसार मनुष्य केवल एक बार ही जन्म ग्रहण करता है।

कर्म-फल का वितरक अथवा कर्म-नियम का नियन्ता ईश्वर को माना गया है। अच्छे कर्मों का अच्छा फल अथवा सुख एवं बुरे कर्मों का बुरा फल अथवा दुःख प्रदान किया जाता है। दुःख की व्याख्या दण्ड के रूप में की जाती है। प्रश्न उठता है कि इस अवधारणा का ईश्वर के प्रेम स्वरूप के साथ कोई विरोध तो नहीं होता। ईश्वर प्रेमस्वरूप तथा अत्यन्त दयालु है वह कैसे किसी को दण्ड के रूप में दुःख देता है। इसकी व्याख्या करते हुए शैव-सिद्धान्त में कहा गया है कि ईश्वर आत्माओं की भलाई के लिए ही उन्हें दण्ड देता है। दण्ड के रूप में दुःख प्राप्त करने से मनुष्य को अच्छाई तथा बुराई का ज्ञान होता है। फलतः वह जगत् की वास्तविकता को जान लेता है। वह यह जान लेता है कि जगत् साधन मात्र है साध्य नहीं। इस प्रकार जान लेने से वह पतिज्ञान तथा पशुज्ञान की ओर अग्रसर होता है। ईसाई धर्म में भी दुःख का ईश्वर के प्रेमस्वरूप के साथ कोई विरोध नहीं माना गया है। ईसाई धर्म में दुःख को आत्मपरिष्कार के रूप में माना गया है।

कभी–कभी यह देखने में आता है कि अच्छे लोग अथवा भले लोग तो संसार में दुःख अनुभव करते पाये जाते हैं किन्तु बुरे लोग अथवा पाप में लिप्त रहने वाले लोग सुख अनुभव प्राप्त करते पाये जाते हैं। क्या ईश्वर द्वारा सुख–दुःख के वितरण में कोई दोष हो सकता है। अथवा अन्य कोई कारण हो सकता है। शैव–सिद्धान्त तथा ईसाई धर्म दोनों में ही यह माना गया है कि ईश्वर द्वारा सुख–दुःख के वितरण में कोई दोष नहीं हो सकता। दोनों ही धर्म इस बात को मानते हैं कि कोई भी मनुष्य बिना कर्म–फल भोग को प्राप्त किये नहीं रह सकता। शैव–सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों का फल जन्म जन्मान्तर में भोगता है।कर्म के तीन प्रकार हैं— सञ्चित, सञ्चीयमान तथा प्रारब्ध। हर व्यक्ति पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के अनुसार वर्तमान जीवन को प्राप्त करता है तथा पूर्व के कर्मों का फल भोगता है एवं भविष्य के लिए कर्म–फल का सञ्चय करता है। हो सकता है कि बुरा व्यक्ति अपने पूर्व के अच्छे कर्मों के फल के रूप में वर्तमान में सुख भोग रहा हो और वर्तमान के बुरे कर्मों का भविष्य में बुरा फल भोगे। इसी प्रकार यह हो सकता है कि अच्छा व्यक्ति पूर्व के बुरे कर्मों का फल वर्तमान में भोग रहा हो और भविष्य में अच्छे कर्मों का फल भोगे। ईसाई धर्म भी इस बात को मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। यदि वह वर्तमान जीवन में अपने कर्मों का फल भोग करता नहीं प्रतीत होता तो उसका फल उसे स्वर्ग अथवा नर्क में अवश्य भोगना पड़ेगा। ईसाई धर्म दुःख को आत्म–परिष्कार के साधन के रूप में भी मानता है। इसके अनुसार यदि अच्छा व्यक्ति दुःख भोगता है तो यह उसके आत्म–परिष्कार के लिए सहायक है।

९. बन्धन अथवा पाप की अवधारणा

शैव–सिद्धान्त धर्म के अनुसार दुख का मूल कारण बन्धन है तथा बन्धन अनादि है। आत्मा अनादि काल से आणव मल से आच्छादित है। आणव के आवरण के कारण आत्मा का वास्तविक स्वरूप आच्छादित है। इसके परिणामस्वरूप आत्मा की स्वाभाविक शक्तियाँ भी सीमित हो गई हैं। आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता। वह नहीं जान पाता कि अपने वास्तविक स्वरूप में वह सर्वज्ञ, शक्तिमान तथा व्यापी है। वह स्वयं को सीमित ही अनुभव करता है। ईश्वर आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानता है। ईश्वर यह जानता है कि आणव के आवरण के कारण आत्मा का वास्तविक स्वरूप छिपा हुआ है। ईश्वर प्रेमरूप अथवा अनुग्रह रूप है। वह आत्मा के वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित करना चाहता है। इस प्रयोजन से ईश्वर सृष्टि द्वारा आत्मा को शरीर और जगत् प्रदान करता है। आत्मा बिना शरीर आदि साधनों के कर्म नहीं कर सकता क्योंकि आणव के आवरण से वह सीमित है। अतः आणव से मुक्ति पाने के लिए प्रयास करने हेतु उसे शरीर आदि साधनों की अपेक्षा होती है। शरीर आदि मायीय साधनों से युक्त होने पर आत्मा माया मल से भी युक्त हो जाता है। शरीर आदि साधनों से युक्त होकर आत्मा जगत् में प्रवेश करता है तथा यहाँ कर्म करने में संलग्न हो जाता है। कर्म करने से आत्मा कर्म मल से भी युक्त हो जाता है। कर्म करने पर आत्मा कर्मों के फल भोगने के लिए बाध्य हो जाता है। फलतः वह जन्म मृत्यु के चक्र में भी फँस जाता है। जगत् में कर्म करते हुए आत्मा सुख–दुःख को अनुभव करने लगता है।

इस प्रकार शैव–सिद्धान्त के अनुसार बन्धन का आदि कारण आणव मल है तथा माया मल और कर्म मल साधन स्वरूप हैं। माया मल और कर्म मल भी बन्धनकारी तत्त्व ही है जो आत्मा को और बन्धन में डालते हैं। किन्तु शैव–सिद्धान्ती ऐसा मानते हैं कि अनादि बन्धन से मुक्त होने के लिए माया और कर्म के बन्धन आवश्यक हैं। जिस प्रकार कपड़े की गन्दगी को दूर करने के लिए साबुन आदि अन्य गन्दगी का प्रयोग आवश्यक होता है, उसी प्रकार आणव मल को दूर करने के लिए माया मल और कर्म मल के प्रभाव से आत्मा अनुभव प्राप्त कर पाश ज्ञान और पशुज्ञान से होता हुआ शिवज्ञान की ओर अग्रसर होता है। कर्मों के अनुभवों

द्वारा आत्मा मलपरिपाक की प्रक्रिया करता है। मल परिपाक की प्रक्रिया पूरी हो जाने पर शिव के अनुग्रह द्वारा आत्मा आणव मल से मुक्ति प्राप्त करता है।

मलों के प्रभाव से ही आत्मा में सीमित ज्ञातृत्व, सीमित कर्तृत्व तथा विषयों के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप का आच्छादन ही शैव–सिद्धान्त के अनुसार बन्धन है। यह बन्धन आणव मल, माया मल तथा कर्म मल के कारण है। आणव मल एक है किन्तु इसकी शक्तियाँ अनेक हैं। यह असंख्य जीवों को वैसे ही व्याप्त किये रहता है जैसे जंग ताँबे को। यह आत्माओं के ज्ञान और क्रिया को सीमित कर देता है तथा उनके अज्ञान का कारण है। आणव को शैव–सिद्धान्त में पाश अथवा बन्धन कहा गया है। यह द्रव्य की दृष्टि से एक है, किन्तु इसकी शक्तियाँ अनन्त हैं। यही कारण है कि एक ही आणव समस्त आत्माओं को व्यक्त किये रहता है। यह आत्मा के साथ अनादि काल से है। शैव–सिद्धान्ती कहते हैं कि जिस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि चावल के साथ भूसी, छिलका आदि कब से है, उसी प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मा के साथ आणव कब से है। इसे आणव सम्भवतः इसलिए कहा जाता है कि यह व्यापक आत्मा को अणु रूप (सीमित) बना देता है। आणव मल को भी व्यापक कहा गया है क्योंकि यह असंख्य आत्माओं को व्याप्त करता है। जिस प्रकार अन्धेरा असंख्य नेत्रों को व्याप्त कर लेता है अथवा दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार एक अन्धेरा (द्रव्य की दृष्टि से एक) असंख्य नेत्रों के सामने अन्धेरा उत्पन्न कर देता है वैसे ही आणव असंख्य आत्माओं को व्याप्त करता है।

आणव के विषय में यह प्रश्न किया जाता है कि आणव के अस्तित्व को किस प्रकार स्वीकार किया जाय अथवा आणव के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए क्या प्रमाण है? शैव–सिद्धान्ती आगम प्रमाण के आधार पर आणव के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। किन्तु शैव–सिद्धान्त की दार्शनिक पद्धति के अनुसार आणव का अस्तित्व तार्किक प्रक्रिया से भी सिद्ध होना चाहिए। आणव का अस्तित्व प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता। आणव ज्ञानेन्द्रियों द्वारा द्रष्टव्य नहीं है, अतः प्रत्यक्ष द्वारा इसकी सत्ता नहीं सिद्ध की जा सकती। अनुमान के लिए व्यापित सम्बन्ध आवश्यक है, किन्तु आणव के सन्दर्भ में प्रत्यक्ष का कोई आधार न होने से व्याप्ति की स्थापना भी नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए जब हम अग्नि और धुँए को रसोई घर में एक साथ देखते हैं तभी पर्वत पर धुँए को देखकर अग्नि का अनुमान करते हैं। किन्तु इस प्रकार का कोई सम्बन्ध आणव के सन्दर्भ में प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः अनुमान के आधार पर आणव का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा

सकता। शब्द प्रमाण द्वारा आणव का अस्तित्व सिद्ध होता है, किन्तु इसे तर्क द्वारा समर्थित अवश्य होना चाहिए। इस प्रक्रिया में शैव-सिद्धान्ती शब्द प्रमाण को ही आधार बना कर अनुमान करते हैं। उनके अनुसार चूँकि आत्मा नित्य और व्यापक है, इसलिए उसके गुण भी नित्य और व्यापक होने चाहिए। यदि हम आत्मा के ज्ञान रूप को कभी व्यक्त पाते हैं और कभी अव्यक्त पाते है; यदि हम उसके ज्ञान को सीमित पाते हैं तो यह किसी बाह्य कारण से होना चाहिए और बाह्य कारण ही आणव है। दूसरे, अज्ञान को आत्मा का स्वरूप नहीं का जा सकता, क्योंकि तब मुक्ति की अवस्था में आत्मा की सर्वज्ञता स्थापित नहीं की जा सकती। अतः अज्ञान को आत्मा का स्वभाव न मानने से अज्ञान का कोई बाह्य कारण अवश्य होना चाहिए। इस कारण को शैव-सिद्धान्ती आणव कहते हैं।

आणव से उत्पन्न अज्ञान को ही शैव-सिद्धान्ती बन्धन का कारण कहते हैं। अज्ञान बन्धन का कारण है तथा अज्ञान का कारण आणव है। अतः आणव ही बन्धन का मूल कारण है। अज्ञान को ही बन्धन के कारण के रूप में सामान्यतः सभी भारतीय दर्शनों में माना गया है। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार अज्ञान ही बन्धन का कारण है। काश्मीर शैव-दर्शन के अनुसार शिव जब तक अपनी लीला को लीला के रूप में जानता है तब तक बन्धन में नहीं है, किन्तु जब वह इस तथ्य को भूल जाता है अथवा जब उसे इसका ज्ञान नहीं रह जाता, वह बन्धन में पड़ जाता है। अज्ञान को बन्धन के कारण के रूप में तो सभी दर्शन मानते हैं किन्तु अज्ञान के स्वरूप को लेकर अद्वैत-वेदान्त, काश्मीर शैव दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त में मतभेद है।

अद्वैत-वेदान्त में अज्ञान को ज्ञान का विरोधी अथवा ज्ञान का सर्वथा अभाव माना गया है। काश्मीर शैव दर्शन में अज्ञान को अपूर्ण ज्ञान कहा गया है। काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि चेतन सत्ता में ज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं माना जा सकता। ज्ञान का सर्वथा अभाव केवल जड़ तथा अचेतन पदार्थों में ही माना जा सकता है, जैसे पत्थर, मेज, कुर्सी आदि। इसलिए काश्मीर शैव दार्शनिक अज्ञान को अपूर्ण ज्ञान के विरोधी अथवा ज्ञान के सर्वथा अभाव के अर्थ में नहीं लेते जो अन्धकार और प्रकाश के समान परस्पर विरुद्ध है। शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि अज्ञान ज्ञान का विरोधी है तो ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता। इस प्रकार मोक्ष में सर्वज्ञता की कल्पना नहीं की जा सकती। यदि अज्ञान को ज्ञान का सर्वथा अभाव माना जाय तो अभाव अथवा असत् से भी ज्ञान की उत्पत्ति होना नहीं माना जा सकता क्योंकि असत् से कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिए शैव-सिद्धान्ती आणव से उत्पन्न अज्ञान को आवरण स्वरूप मानते हैं। उनके अनुसार

अज्ञान ज्ञान को आच्छादित करता है। इस आवरण के हटने से ज्ञान स्वतः प्रकाशित हो जाता है।

आणव मल आत्मा की इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्तियों को सीमित करता है। तथा माया मल भी बन्धनकारी तत्त्व माना गया है। अब प्रश्न उठता है कि यदि माया मल भी बन्धन का कारण है तो आणव मल को मानने की क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में शैव–सिद्धान्ती आणव मल और माया में भेद दिखाते हैं। आणव मल आत्मा को व्याप्त कर उसकी शक्तियों को आच्छादित कर देता है। माया मल आत्मा से अलग रह कर आत्मा की इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्तियों को आंशिक रूप से प्रकाशित करता है। शैव–सिद्धान्ती यह मानते हैं कि आणव मल के आवरण के कारण आत्मा बिना साधनों के न तो कुछ कर सकता है और न ही कुछ जान सकता है। माया के तत्त्वों से निर्मित साधनों के प्रयोग से आत्मा ज्ञान भी प्राप्त कर सकता है और कर्म भी कर सकता है। शैव–सिद्धान्ती आणव के आवरण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि आणव आत्मा की शक्तियों को उस प्रकार आच्छादित नहीं करता है, जिस प्रकार बादल सूर्य को आच्छादित करता है। वरन् यह आत्मा को व्याप्त कर आत्मा के साथ अभिन्न सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। इस अभिन्न सम्बन्ध के कारण आणव मल आत्मा के गुण रूप में भासित होता है, यद्यपि यह आत्मा का गुण नहीं है। आणव अथवा अज्ञान को आत्मा का गुण नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसी स्थिति में आत्मा जड़ पदार्थ हो जायेगा। नेत्र में कोई दोष उत्पन्न हो जाय तो उसे नेत्र का गुण नहीं कहा जा सकता। वैसे ही अज्ञान आणव का गुण है तथा आणव अचेतन है। अतः आणव अथवा अज्ञान आत्मा का गुण नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा चेतन है।

शैव–सिद्धान्त धर्म में आणव मल को आत्मा के समान ही नित्य कहा गया है और यह भी कहा गया है कि अनादि काल से ही यह आत्मा को आबद्ध किये है। अब प्रश्न उठता है कि आणव से मुक्ति किस प्रकार सम्भव है? अनादि और नित्य होने से आणव का सर्वथा विनाश मानने में तार्किक कठिनाई हो सकती है, क्योंकि विनाश उसी का होता है जो उत्पन्न हो। शैव–सिद्धान्ती कहते हैं कि शिवज्ञान प्राप्त होने पर शिवज्ञान की उपस्थिति मात्र से आणव का मल दूर हो जाता है, जैसे सूर्य के प्रकाशित होते ही अन्धेरा दूर हो जाता है। आणव के सर्वथा विनाश के विषय में शैव–सिद्धान्ती दार्शनिकों में मतभेद है। कुछ दार्शनिक तो यह मानते हैं कि मुक्ति की अवस्था में भी आणव का अस्तित्व रहता है, किन्तु उसका बन्धनकारी प्रभाव समाप्त हो जाता है, अथवा दूसरे शब्दों में, आणव निष्क्रिय हो जाता है।

आणव मल के प्रभाव से आत्मा को मुक्त करने के लिए शिव आत्माओं पर अनुग्रह करके उन्हें माया मल से युक्त करता है। माया मल भी आणव मल के समान नित्य है। माया जगत् का उपादान कारण है। माया को उत्तेजित कर शिव माया से आत्मा को कर्म करने के लिए साधन प्रदान करता है। माया से तनु, करण, भुवन और भोग उत्पन्न होते हैं; जिनका प्रयोग आत्मा करता है। माया से ही सृष्टि के छत्तीस तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। माया द्वारा प्रदत्त साधनों से आत्मा अपनी मुक्ति के लिए प्रयास करता है, इसलिए माया आत्मा के लिए सहायक है। किन्तु माया को भी मल कहा जाता हैं क्योंकि माया भी आत्मा को बन्धन में ही डालती है। माया द्वारा प्रदत्त शरीर को धारण कर आत्मा शरीर के बन्धन में पड़ता है तथा माया प्रदत्त साधनों के प्रयोग से कर्म करने से आत्मा कर्म मल से भी लिप्त होता है। फलतः उसे आणव मल और कर्म मल से भी मुक्ति प्राप्त करना होता है। शैव-सिद्धान्ती मानते हैं कि माया मल आत्मा की इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्तियों को आंशिक रूप से क्रियाशील करता है। आत्मा में ये शक्तियाँ स्वभावतः हैं, किन्तु आणव मल के प्रभाव के कारण आत्मा इनका प्रयोग नहीं कर सकता। जिस प्रकार नेत्र में देखने की क्षमता है, किन्तु नेत्र अन्धकार के कारण देख नहीं सकता, प्रकाश साधन रूप में नेत्र के लिए आवश्यक है। उसी प्रकार आत्मा में सारी क्षमताओं के होते हुए भी आणव के प्रभाव के कारण साधन रूप माया मल आत्मा के लिए आवश्यक है। माया द्वारा प्रदत्त आत्मा के पञ्चकञ्चुक (कला आदि) आत्मा की सीमित ज्ञातृता, सीमित कर्तृता को उत्तेजित कर आत्मा में विषयों के प्रति भोग अथवा कामना की भावना उत्पन्न करते हैं। विषयों के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो जाने से आत्मा कर्म में प्रवृत्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त माया विभ्रम, मोह आदि की भी जननी है।

शरीर आदि मायीय साधनों से युक्त आत्मा द्वारा किये गये कर्मों को कर्म मल कहा जाता है। कर्म को मल इसलिए कहा जाता है, क्योंकि कर्म भी बन्धनकारी तत्त्व है। कर्म को बन्धनकारी तत्त्व इस अर्थ में कहा जाता है कि आत्मा कर्म करने के बाद कर्म के फल को भोगने के लिए बाध्य हो जाता है। कर्म कायिक, वाचिक तथा मानसिक होते हैं। शैव-सिद्धान्ती भी प्रारब्ध, सञ्चित और सञ्चीयमान कर्मो को मानते हैं। प्रारब्ध कर्मों के अनुसार शरीर आदि अथवा जन्म ग्रहण कर व्यक्ति कर्म करता है तथा वर्तमान जन्म में पूर्व के कर्मों के फल को भोगता हुआ अगले जन्म के लिए भी कर्मों का सञ्चय करता है। कर्म ही सुख-दुःख के कारण हैं। ऐसा माना गया है कि अच्छे कर्मों द्वारा सुख की उत्पत्ति होती है तथा बुरे कर्मों द्वारा दुःख अथवा कष्ट की उत्पत्ति होती है। अच्छे-कर्मों की परिभाषा करते हुए कहा

गया है कि जो कर्म दूसरों को पीड़ा न पहुँचाए अथवा हानि न पहुँचाए अपितु उनके कल्याण के लिए हों, वे कर्म अच्छे कहे जाते हैं, तथा जो कर्म दूसरों को हानि पहुँचाते हैं वे कर्म बुरे कहे जाते हैं। अच्छे-बुरे कर्मों के कारण आत्मा 'कर्मों के नियम' के सम्बन्ध में भी बँध जाता है। इस प्रकार यद्यपि कर्म आणव से मुक्ति प्राप्त करने के लिए आत्मा के सहायक हैं; किन्तु आत्मा के लिए ये भी बन्धन का ही कार्य करते हैं।

चार्वाक दार्शनिक प्रारब्ध कर्मों अथवा पूर्वजन्म के कर्मों में विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार सुख-दुःख अच्छे-बुरे कर्मों के कारण नहीं हैं, वरन् ये व्यक्ति के लिए स्वाभाविक हैं। शैव-सिद्धान्ती चार्वाक मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यह कैसे हो सकता है कि दो परस्पर विरोधी बातें एक ही वस्तु के स्वभाव में हों। इसलिए सुख दुःख का कोई कारण होना चाहिए। वह कारण अच्छे बुरे कर्म हैं। चार्वाक दार्शनिक पूर्वजन्म के कर्मों का निषेध करते हुए सुख-दुःख की व्याख्या वर्तमान जीवन से ही करते हैं। उनके अनुसार जो व्यक्ति वर्तमान जीवन में प्रयास करके धन, सम्पत्ति अर्जित करता, वह सुखी रहता है तथा जो व्यक्ति आलस्य में पड़ कर कुछ नहीं करता, वह निर्धनता के कारण दुःखी रहता है। शैव-सिद्धान्ती चार्वाक मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि वर्तमान जीवन के प्रयास अथवा आलस्य को भी सुख-दुःख का कारण माना जाता है, किन्तु जो सुख दुःख जन्म से निर्धारित होता है, उसकी व्याख्या वर्तमान कर्मों से ही केवल नहीं की जा सकती। कुछ व्यक्ति जन्म से ही धनी हैं अथवा सुखी हैं और कुछ व्यक्ति जन्म से ही गरीब अथवा दुःखी हैं। इस विभेद की व्याख्या बिना पूर्वजन्म के कर्मों को माने नहीं की जा सकती। कर्म शारीरिक क्रिया पर निर्भर है, अर्थात् शरीर द्वारा ही कर्म होता है। शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि वर्तमान जन्म में प्राप्त शरीर पूर्व-जन्म के कर्मों के कारण है। कहने का तात्पर्य यह है कि कर्म शरीर के कारण हैं तथा शरीर कर्म के कारण है। अब प्रश्न उठता है कि इसके अनुसार पहले शरीर हुआ कि पहले कर्म। यह प्रश्न अत्यन्त जटिल है क्योंकि न तो शरीर को ही पहले माना जा सकता है और न ही कर्म को। बिना कर्म के शरीर प्राप्त नहीं होगा तथा बिना शरीर के कर्म ही नहीं होगा। शैव-सिद्धान्ती कहते हैं कि जिस प्रकार बीज-वृक्ष में कौन पहले है, यह निर्धारण नहीं हो सकता, उसी प्रकार शरीर और कर्म में कौन पहले है, यह निर्धारण नहीं हो सकता।

कर्म मल के सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि यदि कर्म भी आत्मा को बन्धन में ही डालता है अथवा कर्मों के परिणामस्वरूप ही आत्मा

सुख–दुःख अनुभव करता है तो ईश्वर क्यों उसे शरीर आदि साधन प्रदान कर कर्म में प्रवृत्त करता है? शैव–सिद्धान्ती इसके उत्तर में कहते हैं कि कमों द्वारा अनुभव प्राप्त करना बन्धन से मुक्ति पाने के लिए आवश्यक है। आत्मा सुख–दुःख को अपने अच्छे–बुरे कर्मों के अनुसार अनुभव करता हुआ पाश ज्ञान तथा पशु ज्ञान से होता हुआ शिव ज्ञान की ओर अग्रसर होता है। सुख–दुःख के अनुभवों से वह जगत् की वास्तविकता को जानता है। वह जान जाता है कि जगत् उसके लिए साधन मात्र है, अभीष्ट नहीं फलतः वह शिव ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपने को तैयार करता है। शिव ज्ञान के लिए मलपरिपाक की प्रक्रिया आवश्यक है। मलपरिपाक कर्मों द्वारा ही हो सकना है।

आणव, माया और कर्म मल के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में शैव–सिद्धान्ती कहते हैं कि तीनों ही मल एक दूसरे से परस्पर सम्बन्धित हैं। तीनों ही मल आत्मा के साथ अनादि काल से हैं। इनमें से कौन पहले से है अथवा कब से है, यह नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार धान के बीज में छिलका भूसी और अंकुरण ये तीनों कब से है, यह नहीं कहा जा सकता, वैसे ही आत्मा के साथ ये मल कब से हैं, यह निर्धारित नहीं किया जा सकता। एक दृष्टि से आणव, माया और कर्म का क्रम निर्धारण किया जा सकता है, जैसे आणव मूल कारण है क्योंकि यह अज्ञान उत्पन्न करता है, अज्ञान इच्छा तथा वासनाओं को उत्पन्न करता है, वासनायें शरीर धारण का कारण हैं तथा शरीर कर्म के कारण है। किन्तु प्रलयावस्था में जहाँ शरीर का अभाव रहता है, वहाँ भी माया मल और कर्म मल शक्ति रूप अथवा बीज रूप में रहते हैं। यदि माया मल और कर्ममल का अभाव प्रलयावस्था में जाना जाय तो पुनः सृष्टि में शरीर अथवा जन्म आदि का निर्धारण नहीं हो सकता। अतः यही कहा जा सकता है कि ये तीनों मल आत्मा को अनादि काल से आबद्ध किये हैं। मलपरिपाक की प्रक्रिया के बाद इन तीनों मलों से मुक्ति पाकर आत्मा मोक्ष प्राप्त करता है।

ईसाई धर्म के अनुसार दुःखों का मूल कारण मानव का पाप है। शैव–सिद्धान्त में दुःखों के मूल कारण को बन्धन कहा जाता है, ईसाई धर्म में दुखों के मूल कारण को आदि पाप (Original sin) कहा जाता है। पाप मात्र एक भूल नहीं है, बल्कि उससे एक ऐसी दुखमय स्थिति उत्पन्न होती है जो सार्वभौम है। ईसाई धर्म की मान्यताओं के अनुसार ईश्वर ने मानव को अपने सदृश बनाया तथा अपने पास अर्थात् अपने लोक में ही रखा। मानव का निवास ईडेन गार्डेन था। मानव को पूर्ण स्वतन्त्रता थी किन्तु ईडेन गार्डेन के एक वृक्ष का फल खाना उसके लिए निषिद्ध

था। वह वृक्ष ज्ञान का फल था। शैतान ने आदि मानव अर्थात् आदम और उसकी पत्नी ईव को बहकाया तथा उस फल को खाने के लिए प्रेरित किया। एक वर्णन के अनुसार शैतान ने कहा, 'यदि तुम (मानव) उस वृक्ष का फल खाओगे, तो तुम्हारी आँखें खुल जाएंगी। तुम्हें भले बुरे का ज्ञान हो जाएगा। इस प्रकार तुम देव जैसे बन जाओगे।'[१] शैतान के बहकावे में आकर आदम ने परमेश्वर के नियम को भङ्ग कर वर्जित वृक्ष का फल तोड़कर खाया। यही आदम का पाप था जिसे आदि पाप कहा जाता है। इसका तात्पर्य है परमेश्वर के आदेश तथा नियम का उल्लंघन करना। वास्तव में दिव्य आदेश के इस उल्लंघन द्वारा मानव परमेश्वर के अधीन होने से इनकार करता है। निषिद्ध फल खाने से मानव का उद्देश्य था, शुभाशुभ विषयक ज्ञान की प्राप्ति, जो परमेश्वर का विशेषाधिकार था। धर्म के सामाजिक स्वभाव के फलस्वरूप आदि–मानव सम्पूर्ण मानव जातिं का प्रतिनिधि माना जा सकता है। फलतः आदि–पाप का प्रभाव सम्पूर्ण मानव जाति पर पड़ना अनिवार्य था। ईसाई मान्यता के अनुसार इतने गुरुतर पाप का फल सार्वभौम घोर संकट होना अनिवार्य था। आदि सृष्टि की सुव्यवस्था के बदले संसार में हर प्रकार का दुःख उत्पन्न हुआ। इसके फलस्वरूप पुरुष को जीविका कमाने के लिए परिश्रम का बोझ उठाना पड़ता है, नारी प्रजनन में दुःख–तकलीफ सहती है, फिर मानव जाति में फूट होने लगी। पापी मनुष्य ने परमेश्वर से भी अपना सम्बन्ध भङ्ग किया। ईश्वर के सान्निध्य सुख के बदले मानव का हृदय परमेश्वर के सामने भय से भर गया। अन्त में सांसारिक दुःख भी उत्पन्न हुए जिनकी परिणति मृत्यु में हुई। सृष्टिकर्ता परमेश्वर ने पतित मानव से कहा, 'तू उस मिट्टी में ही मिल जाएगा, जिससे तू बनाया गया है।'[२]

तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो शैव–सिद्धान्त एवं ईसाई धर्म में प्रतिपादित बन्धन की अवधारणा में साम्य देखा जा सकता है। शैव–सिद्धान्त के अनुसार बन्धन अनादि है। आत्मा अनादि काल से आणव मल के आवरण से बँधा हुआ है। इस बन्धन से मुक्ति पाना ही आत्मा का लक्ष्य अथवा परम उद्देश्य है। ईसाई धर्म में बन्धन को आदि पाप की संज्ञा दी गई है। शैव–सिद्धान्त इस बात को मानता है कि बन्धन आत्मा का वास्तविक स्वरूप अथवा मूल रूप नहीं है। अपने वास्तविक स्वरूप अथवा मूल रूप में आत्मा पूर्ण, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा शुद्ध है। आणव का बन्धन आत्मा को कब और क्यों व्याप्त किया, इस बात का कोई विवरण शैव–सिद्धान्त धर्म में नहीं पाया जाता। वहाँ बन्धन को अनादि कहा

१. उत्पत्ति ग्रन्थ, ३१५.
२. उत्पत्ति ग्रन्थ, ३/१९.

जाता है। ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर ने मानव की रचना की तथा उसे स्वर्ग में अपने पास ही रखा। मानव के लिये ईडेन गार्डन का वह फल खाना निषिद्ध था जिसके खा लेने पर मानव को ज्ञान हो जाता। इस कथन का यह तात्पर्य निकाला जा सकता है कि मान्व अपने मूल रूप में सर्वज्ञ नहीं था। मानव ने शैतान के बहकावे में आकर निषिद्ध फल खा लिया। इसको ही ईसाई धर्म में आदि पाप कहा जाता है जिसके कारण मानव को तथा मानव के वंश को पृथ्वी पर दुःख भोगना पड़ता है। यहाँ एक बात स्पष्ट है कि आदि मानव को अपने इच्छा स्वातन्त्र्य का दुरुपयोग करने तथा ईश्वर की आज्ञा अथवा इच्छा की अवहेलना करने के कारण पाप, बन्धन अथवा दुःख का भागी बनना पड़ा। इस प्रकार मानव के सन्दर्भ में बन्धन का आदि है अथवा कारण है किन्तु मानव के वंश को पाप, बन्धन अथवा दुःख का भागी इसलिये बनना पड़ता है क्योंकि वह आदि मानव का वंशज है। इस दृष्टि से मानव के वंशजों के लिए बन्धन अनादि है। इससे मुक्ति प्राप्त करना ही सभी मनुष्यों का लक्ष्य एवं परम उद्देश्य है।

एक अर्थ में संसार में जन्म ग्रहण करना ही बन्धन अथवा दुःख है। इस बन्धन की सीधी जिम्मेदारी मनुष्य पर नहीं आती। शैव–सिद्धान्त के अनुसार यह बन्धन अनादि आणव के कारण है तो ईसाई धर्म के अनुसार इस बन्धन अथवा दुःख का कारण आदि पाप है। किन्तु कर्म के परिणामस्वरूप जो सुख–दुःख भोगना पड़ता है उसके लिए जिम्मेदार मनुष्य स्वयं है, इस बात को दोनों ही धर्म मानते हैं। दोनों धर्मों के अनुसार मनुष्य में इच्छा–स्वातन्त्र्य है। मनुष्य अपने अच्छे अथवा बुरे कर्मों का चुनाव अपनी स्वन्त्रेच्छा से करता है। फलतः वह कर्मानुसार सुख–दुःख भोगता है। अच्छे कर्मों के परिणाम स्वरूप उसे दुःख की प्राप्ति होती है। शैव–सिद्धान्त के अनुसार कर्मों का फल भोगने के लिए मनुष्य को एक से अनेक जन्म ग्रहण करना पड़ता है। जन्म और पुनर्जन्म का चक्र तब तक चलता रहता है जब तक कि आत्मा के सम्पूर्ण कर्मों का फल क्षीण नहीं हो जाता तथा ईश्वर की कृपा से उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो जाती। ईसाई धर्म में स्वर्ग एवं नर्क की कल्पना की गई है। कर्मों के अनुसार मृत्यु के पश्चात् मनुष्य को स्वर्ग अथवा नर्क में स्थान मिलता है। स्वर्ग में सुख तथा नर्क में दुःख की प्राप्ति होती है। स्वर्ग को ईश्वर का राज्य कहा जाता है जहाँ ईश्वर का सन्निध्य प्राप्त होता है। इसे ही ईसाई धर्म में मुक्ति कहा गया है।

दुःख की व्याख्या दण्ड के रूप में भी की जाती है। इसके अनुसार बुरे कर्म अथवा पाप करने वाले को ईश्वर दण्ड के रूप में दुःख देता है। दण्ड के रूप में

दुःख की अवधारणा को शैव–सिद्धान्त तथा ईसाई धर्म दोनों में ही माना गया है। दोनों ही धर्मों में यह माना गया है कि पाप कर्म के फल के रूप में अथवा दण्ड के रूप में ईश्वर दुःख प्रदान करता है। दुःख को आत्म–परिष्कार अथवा आध्यात्मिक उत्कर्ष के रूप में भी माना गया है। शैव–सिद्धान्त धर्म में मलपरिपाक की अवधारणा है जिसके अनुसार संसार में सुख–दुःख का अनुभव करते हुए मनुष्य अपने मलों का परिपाक करता है। अर्थात् वह पति ज्ञान, पशु ज्ञान और पाश ज्ञान प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है अथवा प्रयास करता है। ईसाई धर्म भी इस बात को मानता है कि दुःख से मनुष्य का आत्म–परिष्कार होता है। ईसाई मान्यता के अनुसार दुःख को सहने से अपना कल्याण तो होता ही है, दूसरों का कल्याण भी होता है। ईसा मसीह द्वारा सहे गये सारे कष्ट दूसरों के लिए अथवा समग्र मानवता के कल्याण के लिए थे।

१०. मुक्ति

शैव–सिद्धान्त धर्म के अनुसार आत्मा द्वारा शुद्धावस्था की प्राप्ति ही मोक्ष है। मलों के प्रभाव से आबद्ध होने के कारण आत्मा स्वयं मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाता। मोक्ष प्राप्ति के लिए आत्मा शिव पर आश्रित है। शिव ही अपने अनुग्रह शक्ति द्वारा आत्माओं को मोक्ष प्राप्त कराता है। मोक्ष अन्ततः शिव के अनुग्रह पर ही निर्भर है किन्तु शैव–सिद्धान्ती यह मानते हैं कि आत्मा मोक्ष के लिये प्रयास कर सकता है। आत्मा अपने प्रयासों द्वारा स्वयं को शिव का अनुग्रह प्राप्त करने के लायक बनाता है। इस प्रयास के क्रम में सर्वप्रथम मलपरिपाक होना आवश्यक है। शैव–सिद्धान्ती यह मानते हैं कि मलों से छुटकारा पाने के लिए मलों का परिपाक होना आवश्यक है जो आत्मा अपने कर्मों द्वारा करता है। मलपरिपाक की प्रक्रिया पूरी हो जाने के पश्चात् शिव गुरू रूप में प्रकट होता है तथा आत्माओं को दीक्षा देता है। गुरू से दीक्षा अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करके आत्मा शिवज्ञान की ओर अग्रसर होता है। मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप में बताये गये मार्गों का अनुसरण करते हुए आत्मा 'शक्तिनिपात्' की अपेक्षा करता है। अन्ततः शिव अपनी अनुग्रह शक्ति (अरुल शक्ति) द्वारा आत्माओं को शिव ज्ञान प्राप्त करा कर मुक्त करता है। इस प्रकार मोक्ष अन्ततः शिव के अनुग्रह पर ही निर्भर है, किन्तु अनुग्रह प्राप्त करने की आवश्यक शर्त मलपरिपाक है तथा तदुपरान्त शक्तिपात् के लिए शिव भक्ति आवश्यक है।

शैव–सिद्धान्त के अनुसार माया द्वारा प्रदत्त शरीर आदि साधनों से जीवात्मा कर्म करता है। कर्म करने से कर्मों के फल भोगने के लिए वह बाध्य हो जाता है। फलतः मुक्ति प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि आत्मा कर्म बन्धन से भी छुटकारा प्राप्त करे। कर्म बन्धन से छुटकारा पाने के लिए आवश्यक है कि या तो आत्मा सभी कर्मों के फल भोग ले अथवा ऐसी स्थिति आ जाय कि उसके कर्म फलों का उत्पादन ही न करें। सभी कर्मों का फल भोग लेना असम्भव है क्योंकि कर्मों का फल भोग करते समय जीवात्मा नवीन कर्म करेगा ही तथा उन नवीन कर्मों के फल भी उसे भोगने होंगे। इस प्रकार इस शृंखला का अन्त नहीं होगा। अतः यही आवश्यक है कि आत्मा नवीन कर्म फलों का उत्पादन न करें। किन्तु यह कैसे सम्भव है? कर्म नष्ट नहीं होते तथा कर्म फलों का उत्पादन अवश्य करेंगे, क्योंकि यह

कर्मों का नियम ही है। इसके उत्तर में शैव–सिद्धान्ती कर्मों के मूल कारण पर विचार करते हैं। शैव–सिद्धान्त के अनुसार आणव मल के प्रभाव के कारण आत्मा में अज्ञान उत्पन्न होता है। अज्ञान के कारण विषयों के प्रति आसक्ति अथवा वासनाओं की उत्पत्ति होती है। वासनायें ही शरीर–धारण तथा कर्म के कारण हैं। अतः यदि वासनाओं पर अधिकार कर लिया जाय तो नवीन कर्म वासनाजनित न होने से फलों का उत्पादन नहीं करेंगे। फलतः कर्म–बन्धन अथवा कर्म मल से छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए मलों का परिपाक होना आवश्यक है, जो आत्मा अपने जागतिक कर्मों के अनुभव द्वारा करता है। जीवात्मा अपने कर्मों से उत्पन्न सुख–दुःख को अनुभव करता है। दुःख की अनुभूति द्वारा वह बुरे कर्मों से विरक्त होता है। सुख की अनुभूति द्वारा वह अच्छे कर्मों में लगता है। सुख–दुःख के अनुभव के इस क्रम में आत्मा जगत् की वास्तविकता को जान लेता है। वह समझ जाता है कि जगत् उसके लिए अभीष्ट नहीं है। जागतिक पदार्थ मात्र भोग के साधन हैं। फलतः उसका मन जगत् से असन्तुष्ट हो जाता है। जगत् से असन्तुष्ट जीवात्मा अपनी सन्तुष्टि के लिए आध्यात्मिक ज्ञान की ओर अग्रसर होता है। जगत् की वास्तविकता को पूर्णतया जान लेने पर जीवात्माओं की वासनायें शेष नहीं रह जाती अथवा दूसरे शब्दों में, वासनायें तृप्त हो चुकी रहती हैं। फलतः जीवात्मा के कर्म वासनाओं से प्रेरित न होने के कारण फल का उत्पादन नहीं करते अथवा दूसरे शब्दों में, जीवात्मा को कर्म–बन्धन में नहीं डालते। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि बुरे कर्मों को तो जीवात्मा दुःख का जनक समझकर छोड़ सकता है, अथवा बुरे कर्मों के फल भोगने से इस प्रकार बच सकता है, किन्तु जीवात्मा अच्छे कर्मों को सुख का जनक समझ करेगा ही और यदि अच्छे कर्म भी करेगा तो उसका फल उसे अवश्य भोगना होगा। इस प्रकार कर्म बन्धन से उसे छुटकारा नहीं मिल सकता? अच्छे कर्मों के फलोपभोग से भी बचने के लिए शैव–सिद्धान्ती मानते हैं कि कर्मों का उदात्तीकरण आवश्यक है। जीवात्मा बुरे कर्मों को बुरा समझकर छोड़ देता है, जिससे उनके फलोपभोग से बच जाता है। अच्छे कर्मों को वह ईश्वर के कार्य समझकर अथवा ईश्वर को समर्पित कर के करता है। ईश्वर को समर्पित कर देने से वह कर्मों के फलोपभोग से बच जाता है अथवा दूसरे शब्दों में, इस प्रकार जीवात्मा के नवीन कर्म फलों का उत्पादन नहीं करते।

मलपरिपाक शैव–सिद्धान्त धर्म का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है, जिसके अनुसार कर्मों द्वारा ही कर्म बन्धन से छुटकारा प्राप्त किया जाता है। कर्म को बन्धन स्वरूप माना गया है किन्तु केवल द्वितीय अर्थ में। कर्म बन्धन का मूल कारण नहीं है।

बन्धन का मूल कारण आणव अथवा अज्ञान है, जिससे वासनाओं की उत्पत्ति होती है। इस मूल बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए कर्म सहायक अथवा साधन हैं। इसलिए कर्म को बन्धन का कारण नहीं कहा जा सकता। कर्म भी एक प्रकार का मल है, क्योंकि इसके द्वारा जीवात्मा फलोपभोग के लिए बाध्य हो जाता है। इसलिए कर्म को केवल द्वितीय अर्थ में बन्धन स्वरूप कहा जा सकता है। कर्मों से प्राप्त अनुभवों द्वारा ही वासनाओं पर अधिकार प्राप्त किया जाता है। इसलिए शैव–सिद्धान्ती कर्म का निषेध नहीं करते, वरन् कर्म के उदात्तीकरण अथवा समर्पण की बात करते हैं। वासनाओं पर अधिकार प्राप्त करने के लिए ही मलपरिपाक की प्रक्रिया को आवश्यक माना गया है। वासनाओं पर अधिकार प्राप्ति को कुछ दर्शनों में वासनाओं के निषेध अथवा विनाश के अर्थ में लिया गया है। किन्तु शैव–सिद्धान्त में इसे तृप्ति के अर्थ में लिया गया है। शैव–सिद्धान्त के अनुसार कर्मों द्वारा प्राप्त अनुभवों से वासनाओं की तीव्रता स्वतः समाप्त हो जाती है तथा जीवात्मा आध्यात्मिक ज्ञान की ओर अग्रसर हो जाता है। इसलिए शैव–सिद्धान्त में आध्यात्मिक साधनों के लिए गृहस्थ आश्रम के आदर्शों को महत्वपूर्ण माना गया है। शैव–सिद्धान्त के अनुसार सांसारिक कर्मों के अनुभवों द्वारा ही मल परिपाक की प्रक्रिया पूरी हो सकती है। अतः शैव–सिद्धान्त में संन्यास पद्धति अथवा संन्यास मार्ग को प्रोत्साहन नहीं दिया गया। फलतः शैव–सिद्धान्त में जगत् के निषेध की बात नहीं कही गई। संन्यास–मार्ग को आवश्यक मानने वाले दार्शनिक जगत् का तथा जागतिक कर्मों का निषेध अथवा त्याग करने का निर्देश करते हैं। उनके अनुसार जगत् का त्याग कर, इस प्रकार वासनाओं के बीज को भून कर ही वासनाओं पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है। आगमिक परम्परा के दार्शनिक इस तर्क को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार बीज को भून कर उसकी अंकुरण शक्ति को नष्ट किया जा सकता है, किन्तु चेतन प्रवृत्ति को अथवा मन की वृत्तियों को इस प्रकार दमित कर उन पर विजय नहीं प्राप्त किया जा सकता। मन की चञ्चल वृत्तियों का दमन सर्वदा के लिए नहीं हो सकता। कुछ समय के लिए ही मन की वृत्तियों को दबा कर रखा जा सकता है, किन्तु कुछ समय के पश्चात् उनका पुनः चञ्चल हो जाना स्वाभाविक है अथवा दूसरे शब्दों में, इसकी सम्भावना अवश्य हो सकती है। आगमिक परम्परा के दार्शनिक यह मानते हैं कि वासनायें स्वाभाविक रूप से तृप्त होने के बाद स्वयं निष्क्रिय हो जाती हैं। जिस प्रकार बीज स्वतः वृक्ष के रूप में पल्लवित होने के बाद नष्ट हो जाता है। अतः स्वाभाविक रूप से वासनाओं की तुष्टि के बाद ही उन पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए शैव–सिद्धान्ती मलपरिपाक की प्रक्रिया को

कर्मों की परिपक्वता मानते हैं। मलपरिपाक की प्रक्रिया भी स्वयं जीवात्मा अपने से ही सम्पादित नहीं कर लेता, वरन् इस प्रक्रिया में भी शिव की अनुग्रह शक्ति का योगदान है। शैव-सिद्धान्ती यह मानते हैं कि शिव ही आत्मा को कर्म करने के लिए शरीर आदि साधनों से युक्त करता है तथा अपनी अनुग्रह शक्ति द्वारा आत्माओं को सदैव व्याप्त किये रहता है। अतः शिव समय-समय पर आत्माओं को बुरे कर्मों के परिणामस्वरूप दण्ड के रूप में दुःख प्रदान करता है तथा अच्छे कर्मों के परिणामस्वरूप पुरस्कार के रूप में सुख प्रदान करता है कर्म-नियम का नियन्ता ईश्वर ही है। अतः ईश्वर आत्माओं द्वारा जागतिक अनुभव प्राप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए मलपरिपाक की प्रक्रिया में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

शैव-सिद्धान्त धर्म में गुरू को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। वैसे तो शैव-सिद्धान्त के अनुसार आत्माओं के उद्धार के लिए ही शिव सृष्टि, स्थिति (पालन), संहार, निग्रह तथा अनुग्रह करता है तथा इस प्रकार मोक्ष में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, किन्तु शिव की सबसे महत्वूपर्ण भूमिका गुरू की है, जिसे शिव गुरू रूप में प्रकट होकर निभाता है। मलपरिपाक की प्रक्रिया में रत आत्माओं को आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान करने के लिए शिव गुरू रूप मेंप्रकटहोता है। आत्मा अपने वास्तविक रूप में सत्, चित्, आनन्द तथा सर्वज्ञ, शक्तिमान और व्यापक हैं, किन्तु आणव मल के आच्छादन के कारण वे इस तथ्य से अनभिज्ञ हैं। अपनें वास्तविक स्वरूप का ज्ञान आत्मा स्वयं नहीं कर सकते क्योंकि उनकी शक्तियाँ सीमित हैं। अतः स्वरूप ज्ञान के लिए तथा आध्यात्मिक ज्ञान अथवा शिवज्ञान की ओर अग्रसर होने के लिए निर्देशक के रूप में गुरू की भूमिका महत्वपूर्ण है। शिव इस तथ्य को जानता है कि आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में सर्वज्ञ, शक्तिमान् तथा व्यापक है। शिव 'प्रेमस्वरूप' अथवा 'अनुग्रह रूप' है।वह गुरू रूप में प्रकट होकर आत्माओं को स्वरूप ज्ञान कराता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार गुरू रूप में शिव ही प्रकट हो सकता है क्योंकि शिव ही सर्वज्ञ है। सभी आत्मा अनादि काल से आणव के बन्धन से ग्रस्त है। फलतः सर्वज्ञ गुरू के अभाव में आत्मा स्वयं ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। बन्धन के कारण आत्मा का सामान्य आनुभविक ज्ञान सीमित है। सामान्य आनुभविक ज्ञान द्वारा सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता। अतः सामान्य स्थिति में उच्चतर ज्ञान सम्भव नहीं है। उच्चतर ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरू की आवश्यकता अपरिहार्य है जो उच्चतर ज्ञान प्राप्त करने के मार्गों का निर्देशन करता है। यह निर्देशन शिव ही कर सकता है। क्योंकि वही एक मात्र सर्वज्ञ है।

गुरू रूप में शिव के प्रकट होने पर एक आक्षेप यह हो सकता है कि शैव–सिद्धान्त में शिव का अवतार होना नहीं माना गया है। शिव निर्गुण तथा निराकार है। शिव मायोत्पादित रूप धारण कर माया के तत्त्वों द्वारा सीमित नहीं हो सकता। अतः प्रश्न उठता है कि गुरू रूप में शिव का प्रकट होना किस प्रकार सम्भव है। इसके उत्तर में शैव–सिद्धान्ती कहते हैं कि शिव जो भी रूप धारण करता है, वह मायोत्पादित रूप नहीं होते। शिव अपनी शक्ति द्वारा कोई भी रूप धारण कर सकता है। शक्ति शुद्ध है तथा शिव का स्वरूप ही है। शक्ति से निर्मित रूप में किसी प्रकार के मल का अथवा सीमितता का प्रवेश नहीं होता। गुरू रूप में प्रकट होकर शिक्षा देने के लिए अथवा अनुग्रह प्रदान करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि शिव मानव रूप में ही प्रकट हो। शैव–सिद्धान्ती यह मानते हैं कि आत्मा के विभिन्न स्तरों पर शिव विभिन्न प्रकार से अनुग्रह प्रदान करता है। केवल आत्मा के सकलावस्था में शिव गुरू के मानवीय रूप में प्रकट होता है। विज्ञानाकल और प्रलयाकल वर्ग के आत्मा को शिव बिना कोई रूप धारण किये ही अनुग्रह प्रदान करता है। विज्ञानाकल वर्ग के आत्माओं में अपने अनुग्रह शक्ति की अन्तर्यामिता द्वारा गुरू अनुग्रह प्रदान करता है। प्रलयाकल वर्ग के आत्माओं को अनुग्रह प्रदान करने के लिए गुरू शक्ति से निर्मित रूप में प्रकट होता है। सकल वर्ग के आत्माओं के लिए ही शिव गुरू के मानवीय रूप में प्रकट होता है, किन्तु यह मानवीय रूप भी शक्ति निर्मित रूप ही होता है, मायोत्पादित रूप नहीं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विज्ञानाकल और प्रलयाकल वर्ग के आत्माओं को शिव अपना निराधार रूप प्रकट करता है तथा सकल वर्ग के आत्माओं को शिव अपना साधार रूप प्रकट करता है।शिव केवल उन्हीं आत्माओं के सामने गुरू रूप में प्रकट होता है जो अनुग्रह प्राप्त करने के लिए तैयार होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जो आत्मा मलपरिपाक की प्रक्रिया द्वारा स्वयं को शिवज्ञान प्राप्ति के लायक बना लिए रहते हैं। अपरिपक्व आत्मा के सामने शिव गुरू रूप में प्रकट नहीं होता। परिपक्व आत्माओं के सामने गुरू रूप में प्रकट होकर शिव किस प्रकार उन्हें स्वरूप ज्ञान कराता है, इस बात को एक दृष्टान्त के माध्यम से शैव–सिद्धान्ती समझाते हैं। इसके अनुसार किसी राजा का पुत्र बचपन में ही खो गया था जो बन्जारों के हाथ लग गया। बन्जारों के साथ रहने के कारण वह अपनी वास्तविकता को भूल गया। वह बन्जारों की ही वेश–भूषा, रहन–सहन तथा बोल–चाल का आदी हो गया। कालान्तर में राजा ने उसे खोज लिया, किन्तु वह अपने पिता को पहचान नहीं सका। जब राजा ने उसे बन्जारों से अलग करके यह समझाया कि वह बन्जारा नहीं है वरन् राज–पुत्र है तथा विभिन्न प्रकार के ऐश्वर्य का उत्तराधिकारी है तो उसे अपनी वास्तविकता का

ज्ञान हो गया। उसी प्रकार अनादिकाल से बन्धन ग्रस्त होने के कारण आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता। शिव गुरू रूप में प्रकट होकर उसे वास्तविकता का ज्ञान कराता है।

शिव द्वारा गुरू रूप में प्रकट होकर शिक्षा द्वारा अथवा ज्ञान द्वारा आत्मा के मल को दूर करने की प्रक्रिया को शैव–सिद्धान्त में दीक्षा कहा गया है। विज्ञानाकल और प्रलयाकल वर्ग के आत्माओं को शिव बिना कोई मानवीय रूप धारण किये ही उनके ज्ञान रूप (अथवा स्वरूप) में प्रवेश कर अनुग्रह प्रदान करता है। इन वर्गों के आत्माओं को प्रदान किये जाने वाला ज्ञान निराधार शिव दीक्षा कहा जाता है। सकल वर्ग के आत्माओं को शिव गुरू के मानवीय रूप में प्रकट होकर अनुग्रह प्रदान करता है अथवा शिक्षा देता है, यह साधार दीक्षा कहा जाता है। शैव–सिद्धान्त में विभिन्न प्रकार के आत्माओं के लिए विभिन्न प्रकार की दीक्षाओं का वर्णन किया गया है जो मलपरिपाक के विभिन्न स्तर के अनुसार है। ये दीक्षायें हैं– नयन, स्पर्श, वाचक, मानस, शास्त्र, योग तथा हौत्रि। नयन दीक्षा के अनुसार गुरू देखने मात्र से ही आत्मा के मल को दूर करने की प्रक्रिया सम्पादित करता है। नयन दीक्षा के तीन प्रकार – शृङ्गार, निग्रह तथा अनुग्रह माने गये हैं। शृङ्गार दीक्षा के अनुसार गुरू दृष्टिपात द्वारा ही आत्मा के अज्ञान को दूर करता है। निग्रहावलोकन द्वारा गुरू आत्मा के पाश के साथ तादात्म्य निरूपण को ज्ञान के साथ तादात्म्य निरूपण में रूपान्तरित करके आत्मा के मल को दूर करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा पाश या माया अथवा मायीय तत्त्वों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित किये रहता है। दूसरे शब्दों में, आत्मा अज्ञान के कारण शरीर आदि को ही अपना वास्तविक रूप समझे रहता है। गुरू आत्मा का तादात्म्य निरूपण उसके ज्ञान रूप के साथ करता है। अर्थात् उसे यह आभास कराता है कि वह ज्ञान रूप (आत्मा रूप) है, न कि शरीर आदि। अनुग्रहावलोकन द्वारा गुरू पाश ज्ञान से असन्तुष्ट आत्माओं को अपने अनुग्रह द्वारा सन्तुष्टि प्रदान करता है। आत्मा जगत् की वास्तविकता को जानकर जगत् से असन्तुष्ट हो जाता है। गुरू का साक्षात्कार होने पर गुरू की कृपा दृष्टि से अभिभूत आत्मा को सन्तुष्टि प्राप्त होती है। आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप में लाने के लिए गुरू कुछ अनुष्ठान करता है। इस अनुष्ठान को स्पर्श दीक्षा कहा जाता है। अनुष्ठान की क्रिया हो जाने पर गुरू जीवात्मा को अथवा शिष्य को पञ्चाक्षर का ज्ञान कराता है। इस पञ्चाक्षर ज्ञान को वाचक दीक्षा कहा जाता है। शिष्य के मन को शिवज्ञान से भर देना मानस दीक्षा कहा जाता है। पति, पशु और पाश का स्वरूप ज्ञान तथा शिव और आत्मा के सम्बन्ध का ज्ञान

शास्त्र दीक्षा कहा जाता है। निराधार शिव योग के अभ्यास की शिक्षा को योग दीक्षा कहते हैं। होत्रि दीक्षा दो प्रकार की होती है– ज्ञान होत्रि और क्रिया होत्रि। ज्ञान होत्रि दीक्षा द्वारा गुरू मानसिक रूप से शिष्य के शरीर में प्रवेश कर षडध्वाओं को शुद्ध करता है। क्रिया होत्रि–सबीज और निर्वीज दो प्रकार की होती है। निर्बीज दीक्षा उनके लिए है जिनके मल परिपक्व तो हो चुके है किन्तु धार्मिक कृत्यों को नियमित रूप से नहीं कर सकते। निर्बीज दीक्षा बच्चों, युवकों तथा वृद्धजनों के लिए हैं। जो लोग श्रुतियों के अनुशीलन द्वारा धार्मिक कृत्यों को नियमित रूप से कर सकते हैं, उनके लिए सबीज दीक्षा का विधान है। इसे साधिकार दीक्षा भी कहा जाता है। दीक्षा की प्रक्रिया को अध्वशोधन कहा गया है जिसके अनुसार गुरू ज्ञान द्वारा विभिन्न प्रकार से जीवात्माओं को शुद्ध करता है। दीक्षा को शैव–सिद्धान्त में बहुत ही महत्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि दीक्षा द्वारा ही अज्ञानी आत्मा ज्ञान प्राप्त कर मल से मुक्ति पा सकता है।

दीक्षा आदि साधनों से मलपरिपाक की प्रक्रिया पूरी कर लेने पर शिव आत्माओं को अपनी अनुग्रह शक्ति द्वारा मुक्ति प्रदान करता है। आत्मा की मुक्ति के लिए किये गये शिव के इस कृत्य को शैव–सिद्धान्त में शक्तिनिपात कहा गया है। यद्यपि मलपरिपाक के बाद ही आत्मा को मुक्त करने के लिए शक्तिनिपात होता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शिव केवल इसी अवस्था में आत्माओं पर अनुग्रह करता है। शैव–सिद्धान्त में यह माना गया है कि शिव सृष्टि आदि सारे कृत्य अनुग्रह रूप में ही करता है। शिव का चतुर्थ कृत्य निग्रह भी आत्माओं के कल्याण के लिए ही होता है। निग्रह में शिव अपनी तिरोधान शक्ति के प्रयोग से आत्मा के वास्तविक स्वरूप को तथा जगत् के वास्तविक स्वरूप को छिपाता है। आत्मा से वास्तविकता इसलिए छिपायी जाती है ताकि आत्मा कर्म में प्रवृत्त हो तथा अच्छी तरह मल परिपाक की प्रक्रिया पूरी कर ले। यह प्रक्रिया पूरी कर लेने के बाद शिव आत्मा को मुक्त करने के लिए अनुग्रह करता है, जिसे शक्तिनिपात कहा जाता है। शक्तिनिपात में आत्मा की तिरोधान शक्ति अनुग्रह शक्ति (अरुल शक्ति) में परिणत हो जाती है। जो तिरोधान शक्ति वास्तविकता पर पहले आवरण डालती थी, अब वही वास्तविकता को प्रकाशित कराती हैं। मल परिपाक के पश्चात् ही शक्तिनिपात होता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मल परिपाक शक्तिनिपात का कारण अथवा आवश्यक दशा है। यदि मलपरिपाक को शक्तिनिपात का कारण मान लिया जाय तो शक्तिनिपात शिव का स्वतन्त्र अनुग्रह कृत्य नहीं रह जायेगा। यह स्पष्ट है कि शिव अपनी स्वतन्त्रेच्छा से अनुग्रह करता है, क्योंकि

शिव में किसी प्रकार की बाध्यता का आरोपण नहीं किया जा सकता। शिव में कोई आन्तरिक बाध्यता नहीं है क्योंकि वह पूर्ण है; शिव में कोई कमी अथवा अभाव नहीं है, जिसकी पूर्ति वह शक्तिनिपात द्वारा करता है। शिव में बाह्य बाध्यता आरोपित नहीं की जा सकती क्योंकि शिव के समान कोई तत्त्व नहीं है जो उसे अनुग्रह के लिए बाध्य करे। अब प्रश्न उठता है कि फिर यह कहने का क्या अर्थ है कि मलपरिपाक के पश्चात् शक्तिनिपात होता है? इसका तात्पर्य यह है कि शिव सदैव अनुग्रह करता रहता है, मलपरिपाक द्वारा हम स्वयं को शक्तिनिपात प्राप्त करने के लायक बनाते हैं।

शक्तिनिपात के लिए आवश्यक मलपरिपाक भी शिव के अनुग्रह से ही प्रेरित होने के कारण अन्ततः शिव के अनुग्रह का ही परिणाम है, क्योंकि शैव–सिद्धान्त में यह माना गया है कि शिव आत्मा पर अनुग्रह कर उसे मलपरिपाक के लिए जगत् में भेजता है। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि मलपरिपाक भी अन्ततः शिव के अनुग्रह का ही परिणाम है तो व्यक्तिगत प्रयास अथवा विभिन्न साधनाओं (उपायों) का क्या महत्व है? इसका भी उत्तर यही है कि मलपरिपाक शिव के अनुग्रह से ही अभिप्रेत है, किन्तु उसकी प्रक्रिया पूरी कर अनुग्रह प्राप्त करना व्यक्तिगत प्रयास पर निर्भर है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। सूर्य का प्रकाश पहले से ही कमरे के बाहर है, किन्तु कमरे में उस प्रकाश को बुलाने के लिए कमरे के दरवाजे तथा खिड़कियाँ खोलना हमारा काम है। यदि हम खिड़कियाँ तथा दरवाजे नहीं खोलते हैं तो प्रकाश कमरे में अन्दर प्रवेश नहीं करेगा। इसी प्रकार शिव का अनुग्रह सदैव हमारे पास है, किन्तु उसे प्राप्त करने की योग्यता (मलपरिपाक अथवा साधना) का अभ्युदय करना हम पर निर्भर है। शक्तिनिपात के लिए दशा अथवा किसी प्रकार की शर्त का होना इसलिए भी नहीं माना जा सकता क्योंकि आत्मा का हर प्रयास (अथवा साधक का आध्यात्मिक पथ में हर कदम) शिव के अनुग्रह प्राप्ति का संकेत करता है। आत्मा अनादि काल से आणव मल से आच्छादित होने के कारण अज्ञानी हो गया है। फलतः अज्ञानी आत्मा मोक्ष के लिए प्रयास करने को कौन कहे उसके विषय में सोच ही नहीं सकता। शिव के अनुग्रह से अभिप्रेत होने के कारण ही आत्मा अपने मोक्ष के लिए प्रयास करता है अथवा दूसरे शब्दों में, स्वयं को शक्तिनिपात पाने के लायक बनाता है। मलपरिपाक के पश्चात् शक्तिनिपात होने का अर्थ यह भी है कि शक्तिनिपात के लिए योग्य बनना आवश्यक है। हम यदि दुष्ट हैं अथवा अनैतिक आचरण करते हैं तो हमें क्यों मुक्ति आदि अच्छा फल मिलना चाहिए? बुरे को भी अच्छा मिल जाये तो यह नैतिक नियम

के विरुद्ध होगा। इसलिए जब तक हम लायक नहीं होते तब तक शिव की कृपा नहीं मिलती। इसलिए अहैतुकी कृपा कहना उपचार मात्र है। अहैतुकी कृपा का यह अर्थ नहीं है कि भगवान् जीवन के लायक बने बिना ही कृपा बरसा देता है। इसका अर्थ यह है कि भगवान् की ओर से कृपा करने में कोई कारण या हेतु नहीं है। दूसरे शब्दों में, भगवान को कृपा के लिए बाध्य करने वाला कोई हेतु नहीं है। भगवान् तो अपने शुद्ध स्वातन्त्र्य से ही कृपा करता है, कृपा कराने के लिए उसको कोई भी कारण मजबूर नहीं कर सकता।

शैव–सिद्धान्त में मोक्ष प्राप्ति के चार मार्ग बताये गये हैं। ये मार्ग हैं– दास मार्ग, सत्पुत्र मार्ग, सहमार्ग तथा सन्मार्ग। इन मार्गों को क्रमशः चर्या, क्रिया, योग तथा ज्ञान मार्ग कहा जाता है। प्रथम तीन मार्गों से पदमुक्ति प्राप्त होती है। अन्तिम रूप से पूर्ण मुक्ति ज्ञान मार्ग द्वारा ही प्राप्त होती है। मुक्ति के सम्बन्ध में शैव–सिद्धान्ती यह मानते हैं कि पहले क्रमिक मुक्ति अथवा पदमुक्ति ही प्राप्त होती है तथा बाद में पूर्ण मुक्ति प्राप्त होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि शैव–सिद्धान्त के अनुसार पूर्ण मुक्ति एकाएक प्राप्त नहीं हो जाती। पूर्ण मुक्ति पद मुक्ति के प्रश्चात् ही प्राप्त होती है। पहले आंशिक मुक्ति प्राप्त होती है तथा पूर्ण मुक्ति प्राप्त करने के लिए पद मुक्ति प्राप्त करना आवश्यक है। इस प्रकार शैव–सिद्धान्ती यह मानते हैं कि यद्यपि मुक्ति ज्ञानमार्ग द्वारा ही प्राप्त होती है, किन्तु मोक्ष के लिए प्रथम तीन मार्गों का अनुसरण भी आवश्यक है। प्रथम तीन मार्गों के अनुसरण के पश्चात् ही ज्ञान मार्ग का अनुसरण किया जा सकता है। यदि प्रथम तीन मार्गों का अनुसरण नहीं किया जाता है तो केवल ज्ञान मार्ग द्वारा मुक्ति नहीं प्राप्त की जा सकती। इस प्रकार शैव–सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के ये चार मार्ग साधना के चार स्तर हैं। साधना के इन चारों स्तरों से होता हुआ साधक अपने अंतिम लक्ष्य तक पहुँचता है।

शिव मन्दिर की धुलाई, सफाई करना तथा शिव की प्रतिमा पर पुष्प चढ़ाना, दीप जलाना आदि दास मार्ग की साधना है। इस मार्ग में बाह्य उपायों द्वारा साधक विभिन्न प्रकार से शिव की प्रार्थना करता है। मन्दिर की सफाई आदि साधक सेवक की भावना से करता है। गुरू अथवा शिवज्ञान प्राप्त सन्तों की सेवा भी इस मार्ग का अङ्ग है। सन्त तिरुनावुकरसर इस मार्ग के प्रसिद्ध साधक माने जाते हैं। इस मार्ग द्वारा प्राप्त पदमुक्ति को सालोक अथवा शिव–लोक कहते हैं। शिव पूजा के लिए नवविकसित पुष्प, धूप, दीप, तिरुमन्जन और नैवेद्य अर्पित करना तथा पाँच प्रकार की भूत शुद्धि करना, यथा आत्म शुद्धि, मन्त्र शुद्धि और लिङ्ग शुद्धि करना। इसके अतिरिक्त मूर्ति में प्राणप्रतिष्ठा कर सच्चे मन से पूजा, अर्चना करना इस मार्ग

की साधनायें है। इस मार्ग की साधना में साधक बाह्य उपायों के साथ-साथ अन्तर मन का भी प्रयोग करता है। शिव के रूपारूप स्वरूप की उपासना इस मार्ग के साधना द्वारा की जाती है। सत्पुत्र मार्ग की साधना द्वारा प्राप्त पदमुक्ति को सामीप्य कहा जाता है। सन्त तिरुज्ञानसम्बन्दर इस मार्ग के प्रसिद्ध साधक माने जाते हैं। सह मार्ग योग मार्ग है, जिसमें योग साधना की जाती है। योग साधना में इन्द्रियों पर नियन्त्रण किया जाता है। इन्द्रियों पर नियन्त्रण इन्द्रियों को विषय की ओर प्रवृत्त होने से रोक कर किया जाता है। इसके अतिरिक्त प्राणवायु पर नियन्त्रण किया जाता है तथा मन को छः आधारों पर तथा उनके देवताओं पर केन्द्रित किया जाता है। इन देवताओं का ज्ञान प्राप्त कर मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक प्राणवायु को ले जाकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित कमल को खिलाया जाता है। चन्द्रमण्डल के निचले भाग में बहते हुए अमृत को शरीर के सारे भागों में प्रवाहित करना होता है। इसके अतिरिक्त अष्टांग योगसाधना भी शैव-सिद्धान्त के सह मार्ग का अङ्ग है। इस प्रकार की साधना द्वारा साधक के सारे पाप कट जाते हैं। सह मार्ग द्वारा प्राप्त पदमुक्ति को सारूप्य कहा जाता है। सन्त सुन्दरमूर्ति इस मार्ग के प्रमुख साधक माने जाते हैं। सन्मार्ग में साधक को सभी कला, विज्ञान, वेद, उपनिषद्, पुराण, आगमों के कर्मकाण्ड तथा अन्य दार्शनिक मतों के शास्त्रों का अध्ययन आवश्यक है, ताकि वह इस निष्कर्ष पर दृढ़ हो जाय कि शैव-सिद्धान्त ही सबसे उपयुक्त मार्ग है। शैव-सिद्धान्त में विश्वास करने के लिए अन्य दार्शनिक मतों से इसकी तुलना आवश्यक है। अन्य मतों का अध्ययन कर शैव-सिद्धान्त की विशिष्टता को समझ लेने के बाद साधक को पति, पशु और पाश का स्वरूप ज्ञान आवश्यक है। पदार्थत्रय के ज्ञान के बाद साधक ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय में बिना विभेद लक्षित किये ही सर्वज्ञ, नित्य, व्यापक, आनन्दरूप शिव के साथ अभेद सम्बन्ध प्राप्त करता है। इस मार्ग द्वारा पूर्ण मुक्ति प्राप्त होती है, जिसे सायुज्य कहा जाता है। सन्त मनिक्कवासगर इस मार्ग के प्रमुख सन्त कहे जाते हैं। ज्ञान मार्ग को सर्वश्रेष्ठ मार्ग कहा गया है, क्योंकि इससे पूर्ण मुक्ति प्राप्त होती है। ज्ञान को अन्य दर्शनों में भी मुक्ति का कारण माना गया है, यथा सांख्य और मायावाद में भी ज्ञान को ही मुक्ति का कारण माना गया है। शैव-सिद्धान्ती सांख्य और मायावादियों द्वारा प्रतिपादित ज्ञान को पूर्ण मुक्ति का कारण नहीं मानते। उनके अनुसार सांख्य और मायावादियों द्वारा प्रतिपादित ज्ञान पाश ज्ञान और पशु ज्ञान तक ही सीमित है, इसलिए इनसे पूर्ण मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। पूर्ण मुक्ति पति ज्ञान पर निर्भर है, जिसे शैव-सिद्धान्त प्रतिपादित करता है। सामान्य आनुभविक ज्ञान और अपूर्ण ज्ञान पाश ज्ञान है, जो वेद, शास्त्र आदि के अध्ययन से प्राप्त होता है तथा यह वैखरी वाक् का अङ्ग है। पाश ज्ञान प्रपञ्च

ज्ञान है। पशु ज्ञान आत्मा के समस्त प्रपञ्च से विभेद की अनुभूति है ज़िसमें आत्मा सभी प्रकार के प्रपञ्च से अलग केवल रूप में होता है। पशु ज्ञान में आत्मा शिव के समान ही है, किन्तु उसे शिव ज्ञान अथवा शिव से विभेद ज्ञात नहीं रहता। पति ज्ञान में पशु और पति का विभेद स्पष्ट हो जाता है तथा आत्मा स्वयं को शिव को समर्पित कर शिव के माध्यम से ही अथवा दूसरे शब्दों में, शिव ज्ञान द्वारा समस्त वस्तुओं को जानता हुआ सर्वज्ञ हो जाता है। पति ज्ञान ही उच्चतर ज्ञान है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि ज्ञान मार्ग की उच्चतम अवस्था को प्राप्त साधक को क्या मन्दिर में पूजा, उपासना आदि आवश्यक हैं? इसके उत्तर में शैव–सिद्धान्ती कहते हैं कि साधना के चारों मार्ग समान रूप से आवश्यक हैं, इसलिए ज्ञान मार्गी साधक के लिए भी पूजा उपासना आदि आवश्यक है। शैव–सिद्धान्ती मानते हैं कि ज्ञान मार्गी साधक चर्या, क्रिया तथा योग की साधना कर सकता है, किन्तु चर्या, क्रिया तथा योग मार्ग के साधक ज्ञान मार्ग की साधना नहीं कर सकते। इसी प्रकार योग मार्गी चर्या तथा क्रिया मार्ग के साधक योग की साधना नहीं कर सकते। ये चारों मार्ग क्रमिक हैं। एक के बाद एक का अनुसरण किया जाता है। साधना के इन चार मार्गों को कर्म मार्ग, भक्ति मार्ग और ज्ञान मार्ग भी कहा जाता है। दूसरे प्रकार से इन मार्गों को कर्म योग, राज योग और ज्ञान योग कहा जाता है। कर्म, भक्ति, योग और ज्ञान के विश्लेषण में शैव–सिद्धान्ती कहते हैं कि ऐसा नहीं है कि कर्म में भक्ति का अभाव हो अथवा ज्ञान में भक्ति का अभाव हो या भक्ति में ज्ञान और कर्म का अभाव हो। उनके अनुसार भक्ति इन सारे मार्गों के मूल में है। भक्ति ही आत्मा को शिव से जोड़ने की कड़ी है। भक्ति द्वारा ही आत्मा शिव से अनुग्रह प्राप्त कर साधना के इन कतिपय मार्गों का अनुसरण गुरू की सहायता से करता है। शैव–सिद्धान्ती ज्ञान की सर्वोच्च अवस्था मुक्ति में भी भक्ति को अपरिहार्य मानते हैं। उनके अनुसार पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाने के बाद भी आत्मा सेवक ही रहता है।

चर्या, क्रिया आदि विभिन्न साधनाओं को करते हुए साधक शिव ज्ञान की ओर अग्रसर होता है। कतिपय साधनाओं द्वारा किये गये व्यक्तिगत प्रयास के अनुसार साधक अनुग्रह प्राप्त कर ज्ञान प्राप्त करता है। यह ज्ञान क्रमिक होता है। इस क्रमिक ज्ञान अथवा आध्यात्मिक उत्कर्ष को शैव–सिद्धान्त में दस कार्य कहा गया है। ये दस कार्य हैं– तत्त्वरूप, तत्त्व–दर्शन, तत्त्व शुद्धि, आत्म–रूप, आत्म दर्शन, आत्म–शुद्धि, शिव–रूप, शिव–दर्शन, शिव–योग और शिव भोग। ज्ञान के प्रथम चरण में आत्मा माया द्वारा प्रदत्त तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है। मायीय तत्त्वों

से युक्त आत्मा जगत् में प्रवेश कर कर्म करता है। आत्मा मायीय शरीर आदि से तादात्म्य निरूपण कर लेता है। वह शरीर आदि को ही अपना वास्तविक स्वरूप समझ लेता है। आत्मा मायीय तत्त्वों पर बिना विचार किये ही उनका प्रयोग करता रहता है। आत्मा आणव मल के आवरण से उत्पन्न अज्ञान के कारण तत्त्व ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता। मलपरिपाक की प्रक्रिया में उन्नति करने पर आत्मा को शिव का अनुग्रह प्राप्त होता है, जिसके परिणामस्वरूप आत्मा ज्ञान के प्रथम चरण में तत्त्व ज्ञान प्राप्त करता है। तत्त्व ज्ञान की प्रक्रिया में आत्मा सर्वप्रथम तत्त्वों को अपने से पृथक देखता है अथवा अनुभव करता है। ज्ञान की इस अवस्था में वह तत्त्वों का स्वरूप नहीं समझे रहता है। यह तत्त्व रूप है। इसके प्रश्चात् आत्मा तत्त्वों के स्वरूप को समझने का प्रयास करता है। इस प्रयास में आत्मा यह ज्ञान प्राप्त करता है कि तत्त्व अचेतन हैं तथा आत्मा के लिए साधन रूप हैं। ज्ञान की इस अवस्था में तत्त्वों का स्वरूप-ज्ञान तो आत्मा को हो जाता है, किन्तु आत्मा तत्त्वों के प्रभाव में ही रहता है। यह तत्त्व दर्शन है। इसके पश्चात् आत्मा तत्त्वों के प्रभाव से मुक्त होने का प्रयास करता है। इस प्रयास को तत्त्व शुद्धि कहा गया है।

तत्त्वज्ञान के पश्चात् आत्मा आत्म-ज्ञान की ओर अभिमुख होता है। आत्मा तत्त्व ज्ञान के परिणामस्वरूप यह समझ जाता है कि उसका अस्तित्व तत्त्वों से पृथक् है। यह ज्ञान आत्म-रूप कहलाता है। तत्त्वों से स्वयं को पृथक् रूप में अनुभूत कर लेने के बाद आत्मा अपनी स्वाभाविक शक्तियों अथवा अपने वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयास करता है। यह प्रयास आत्म-दर्शन कहलाता है। ज्ञान की इस अवस्था तक आत्मा तत्त्वों के प्रभाव से मुक्त नहीं हुआ रहता। शिव के अनुग्रह से आत्मा तत्त्वों के प्रभाव से मुक्त होकर स्वयं को सर्वोच्च सत्ता से तादात्म्य निरूपण करता है। इसे आत्म-शुद्धि कहा जाता है। आत्म-शुद्धि के पश्चात् आत्मा शिव-ज्ञान की ओर अभिमुख होता है। तत्त्व-ज्ञान तथा आत्म-ज्ञान हो जाने के पश्चात् आत्मा शिव का अनुग्रह इसलिए प्राप्त करने का प्रयास करता है, ताकि वह पुनः तत्त्वों के बन्धन में न पड़े। आत्म-शुद्धि हो जाने पर आत्मा तत्त्वों के साथ अपना तादात्म्य निरूपण नहीं करता। आत्मा शिव के साथ अपने अभेद सम्बन्ध को अनुभूत करने का प्रयास करता है। इस प्रयास में सर्वप्रथम वह शिव को स्वयं में तथा हर जगह देखता अथवा अनुभव करता है। इसे शिव रूप कहा जाता है। शिव को प्रत्येक जगह अनुभूत करने के फलस्वरूप आत्मा में अहंकार का लेशमात्र भी नहीं रह जाता। आत्मा माया और कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। आत्मा स्वयं को शिव को समर्पित कर देता है, जिसके फलस्वरूप अहंकार के पूर्णतया विनाश हो जाने

से अनुग्रह प्राप्त करने में कोई बाधा नहीं रह जाती। इसे शिव–दर्शन कहा जाता है। शिव–दर्शन के पश्चात् आत्मा सुख–दुःख को समभाव से देखता है। वह अपने सारे कृत्यों को शिव का कृत्य समझने लगता है। उसे यह ज्ञान हो जाता है कि वास्तविक कर्ता शिव है, वह निमित्त मात्र है, अथवा अपने को पूर्णतया समर्पित कर देने के पश्चात् वह जो भी करता है उसे शिव का कृत्य समझ कर करता है। इस अवस्था को शिव–योग कहा जाता है। इस अवस्था में रहते हुए आत्मा जगत् से प्रभावित नहीं होता। शिव के साथ पूर्ण तादात्म्य निरूपण के फलस्वरूप आत्मा के सारे भोग शिव के भोग हो जाते हैं। इस अवस्था को शिव भोग कहा गया है। यह ज्ञान की अन्तिम अवस्था है। इस अवस्था में साधक जीवन्मुक्त कहलाता है। ज्ञान की इस उच्चतम अवस्था को प्राप्त कर लेने पर आत्मा बिना ज्ञानेन्द्रियों की सहायता के ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञानेन्द्रियों का प्रयोग जीवन्मुक्त की इच्छा पर निर्भर करता है। वह चाहे तो ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करे अथवा यदि न चाहे तो बिना उनका प्रयोग किये ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यह शिव ज्ञान प्राप्ति की अवस्था है, जिसे शैव–सिद्धान्त में उच्चतर ज्ञान अथवा दिव्य ज्ञान कहा गया है।

ज्ञान की इस उच्चतम साधना को शैव–सिद्धान्त में शिवोहम् भावना की साधना कहा गया है। अज्ञान के कारण आत्मा स्वयं को शरीर आदि मायीय तत्त्वों से तदनुरूपित समझता है। ज्ञान का उत्कर्ष होने पर वह स्वयं को मायीय तत्त्वों से पृथक् समझता है तथा पशुज्ञान हो जाने पर वह स्वयं को शिव से भिन्न समझता है। पतिज्ञान प्राप्त हो जाने पर आत्मा यह समझ जाता है कि तत्त्व की दृष्टि से आत्मा और शिव में विभेद है किन्तु आत्मा और शिव के बीच सम्बन्ध अभेद का है। इस अभेद सम्बन्ध की भावना को दृढ़ करने के लिए अथवा अनुग्रह प्राप्त कर अभेद सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आत्मा को शिवोहम्भावना की साधना अथवा अभ्यास करना होता है कि 'मैं शिव हूँ'। इस भावना के अभ्यास द्वारा आत्मा शिव के साथ तादात्म्य निरूपण कर अभेद सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। इस शिवोहम्भावना की साधना को समझाने के लिए शैव–सिद्धान्ती 'गरुड़ भावना' का उदाहरण देते हैं। जिस प्रकार सर्प के विष से व्याकुल व्यक्ति का उपचार मान्त्रिक गरुड़ के साथ अपना तादात्म्य निरूपण करके करता है। मान्त्रिक ध्यान द्वारा गरुड़ के साथ तादात्म्य निरूपण कर लेता है। इस तादात्म्य निरूपण के द्वारा वह स्वयं गरुड़मय हो जाता है, जिसके फलस्वरूप उसके मन्त्र विष से व्याकुल व्यक्ति को स्वस्थ कर देते हैं। उसी शिवोहम्भावना के अभ्यास द्वारा साधक शिवमय हो जाता है तथा शिव के साथ स्वयं को अभेद सम्बन्ध में अनुभूत करता है।

मलों के प्रभाव से सर्वथा मुक्त आत्मा की शुद्धावस्था मुक्ति है। शुद्धावस्था में आत्मा शिव के साथ अभेद सम्बन्ध स्थापित कर शिवानन्द की अनुभूति करता है। अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों की भाँति शैव–सिद्धान्ती मुक्ति में आत्मा का शिव में पूर्णतः विलय हो जाना अथवा स्वयं शिव हो जाना नहीं मानते। उनके अनुसार तत्त्व की दृष्टि से आत्मा और शिव का द्वैत बना रहता है, किन्तु सम्बन्ध की दृष्टि से दोनों में अद्वैत सम्बन्ध रहता है। भक्तिपरक तथा धर्म दर्शन होने से शैव–सिद्धान्ती मुक्ति की अवस्था में भी उपास्य और उपासक का भेद बनाये रखते हैं। मुक्ति की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए शिवज्ञानसिद्धि में कहा गया है कि यदि यह कहा जाय कि शिव वृक्ष की छाया के समान है, जहाँ आत्मा को पहुँचना है तो यह अमान्य होगा। यदि आत्मा ही शिव के पास पहुँचता है तथा शिव आत्मा के पास नहीं आता, तब आत्मा के पास संकल्प–स्वातन्त्र्य होगा तथा आत्मा ही मालिक और प्रथम कारण होगा। यदि कहा जाय कि आत्मा शिव में विलीन होकर शिव के साथ एक हो जाता है तो यह भी अमान्य होगा क्योंकि जो विलीन होकर अस्तित्व की दृष्टि से समाप्त हो चुका है, उसके साथ एकता सम्भव नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय की आत्मा अस्तित्व की दृष्टि से समाप्त हुए बिना ही विलय कर जाता है तो वह शिव के साथ एक नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि आत्मा विलय के पश्चात् अस्तित्व की दृष्टि से समाप्त होता है तो वह क्या है जो मुक्ति प्राप्त करता है? यदि अस्तित्व की दृष्टि से समाप्ति ही मुक्ति माना जाय तो फिर आत्मा को नित्य अथवा शाश्वत नहीं कहा जा सकता। यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार जल जल में मिल जाता है वैसे ही आत्मा शिव में मिल जाता है, तो आत्मा और शिव समान जो जायेंगे।

शैव–सिद्धान्ती आत्मा और शिव को समान नहीं मानते। मुक्ति की अवस्था में मलों के आवरण से रहित आत्मा शिव के समान ही चित् रूप हो जाता है, किन्तु आत्मा सृष्टि, स्थिति, संहार जैसे शिव के कृत्य नहीं करता। शिव मुक्तिदाता है तथा अनुग्रहरूप है जिससे आत्मा अनुग्रह प्राप्त करता है। शिव प्रकाश और ज्ञान का स्रोत है, जिससे आत्मा ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार एकता की स्थिति में भी वे सर्वथा एक या तदनुरूप नहीं हैं। उनके बीच जो सम्बन्ध है वह अद्वैतपरक है। शिव को स्वयं को समर्पित कर चुकने पर शुद्ध, निर्मल, चित् रूप आत्मा को शिव अपने साथ अविभाज्य सम्बन्ध में रखता है, जहाँ आत्मा शिवानन्द को अनुभूत या भोग करता है। शैव–सिद्धान्ती मानते हैं कि केवल आत्मा ही अपने प्रयास द्वारा शिव के पास नहीं जाता, वरन् शिव स्वयं आत्मा के पास आकर उसे अपना बनाता

हैं। जिस प्रकार नमक जल में मिल जाता है, उसी प्रकार शिव आत्माओं में अपने गुण भर देता है, किन्तु शिव इनसे परे भी रहता है।

शैव–सिद्धान्त में जीवन्मुक्ति की अवधारणा भी मानी गई है। मलों के प्रभाव समाप्त हो जाने पर वर्तमान जीवन में मुक्ति प्राप्त हो सकती है। प्रारब्ध कर्मों के अनुसार वर्तमान जीवन तथा शरीर चलता रहता है। जीवन्मुक्ति की अवस्था में आत्मा का शिव के साथ अभेद सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। आत्मा ज्ञान निष्ठा प्राप्त कर सर्वज्ञ हो जाता है। वह जो भी कर्म करता है वह उसका कर्म न होकर ईश्वर का कर्म होता है। क्योंकि आत्मा इस वास्तविकता को जान जाता है कि सारे कर्मों का स्रोत अथवा आधार ईश्वर ही है। वह सोते जागते, खाते–पीते हर क्षण ईश्वर के ही विचार में लीन रहता है। फलतः जीवन्मुक्ति की अवस्था में प्रतिपादित कर्म बन्धन के कारण नहीं होते और न ही उनका फल ही आत्मा को भोगना पड़ता है। जीवन्मुक्ति सुख–दुख से परे की स्थिति है। जीवन्मुक्त सुख–दुःख को समभाव से अनुभूत करता है। सांसारिक सुख उसे न तो प्रसन्न करता है और न ही सांसारिक दुःख उसे विचलित कर सकता है क्योंकि आध्यात्मिक आनन्द को अनुभूत कर लेने पर सांसारिक सुख उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखता। जीवन्मुक्त शिव से प्रेम करने वाले अथवा शिव की भक्ति करने वाले साधकों की संगति में रहता है तथा सभी प्राणियों से प्रेम करता है। शैव–सिद्धान्ती यह मानते हैं कि शक्तिनिपात हो जाने पर सर्वज्ञ साधक के लिए चर्या, क्रिया जैसी उपासना की बाह्य अथवा आन्तरिक आचरण करना आवश्यक नहीं रहता। जीवन्मुक्त अपनी स्वेच्छा से मन्दिर में उपासना आदि कर सकता है।

शैव–सिद्धान्ती जीवन्मुक्ति की अवस्था में कर्म का निषेध नहीं करते। उनके अनुसार अहंकार का पूर्णतया विनाश हो जाने पर साधक के कर्म ईश्वर को समर्पित हो जाते हैं। इस प्रकार कर्म बन्धन के कारण नहीं रह जाते। अतः उनके निषेध का प्रश्न ही नहीं उठता। जीवन्मुक्ति की अवस्था में वासना अथवा आसक्ति का निषेध अथवा विनाश माना जाता है। पाश ज्ञान प्राप्त कर लेने पर जगत् की वास्तविकता आत्मा को ज्ञात हो जाती है; फलतः जगत् अथवा जागतिक भोगों के प्रति आत्मा में किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रह जाती। यह आसक्ति या वासना ही बन्धन का कारण है। आसक्ति अथवा वासना से प्रेरित कर्म ही बन्धन स्वरूप होते हैं। अनासक्त भाव अथवा वासना रहित भाव से किये गये कर्म बन्धन के कारक नहीं होते। जीवन्मुक्त जो भी कर्म सम्पादित करता है वह अनासक्त भाव से किया गया रहता है। अतः जीवन्मुक्त के कर्म उसे बन्धन में नहीं डालते। शैव–सिद्धान्त

के अनुसार जगत् जीवन्मुक्त के लिए साधन रूप है, यह जान लेने पर इसके प्रति आसक्ति का भाव नहीं रहता।

ईसाई धार्मिक परम्परा के अनुसार मनुष्य स्वभावतः पापी है। पाप उसे उत्तराधिकार रूप में प्राप्त हुआ है। मनुष्य आदम की सन्तान है और आदम ने निषिद्ध फल को खाकर पाप किया। आदम को संकल्प-स्वातन्त्र्य प्राप्त था। उनके सामने निषिद्ध फल को खाने और न खाने दोनों विकल्प थे। परन्तु उन्होंने स्वेच्छा से निषिद्ध फल को खाने का संकल्प किया। इसके परिणामस्वरूप वे पाप के भागी बने और ईसाई समाज उनकी सन्तान है अतः ईसाई समाज उत्तराधिकार रूप में पापी है। वह पाप से ग्रसित है। परन्तु उसे पाप से मुक्ति मिल सकती है। वह ईश्वरीय मार्ग पर चलकर, पूजा, प्रार्थना और प्रायश्चित कर पाप से मुक्त हो सकता है। मानव स्वभावतः पापी है परन्तु ईसाई धर्म के अनुसार वह प्रायश्चित से पाप-मुक्त हो सकता हैं। ईसाई धर्म के अनुसार आत्मा नित्य है, परन्तु स्वर्ग और ईश्वर से विमुख होकर शाश्वत मृत्यु को प्राप्त करता है। शाश्वत जीवन को मानव पुनः प्राप्त कर सकता है। शाश्वत जीवन को प्राप्त करना ही मानव का परम लक्ष्य है। यही मुक्ति है।

यहूदी और ईसाई दोनों धर्मों में पाप और पाप से मुक्ति पर पर्याप्त विचार है। दोनों के अनुसार पाप ही दुःख, अन्धकार और विनाश का कारण है तथा पाप से छुटकारा पाना ही मुक्ति अथवा जीवन का चरम लक्ष्य है। यहूदी धर्म के अनुसार पाप की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा दी गई आज्ञा को न मानने के कारण हुई परन्तु ईसाई धर्म के अनुसार इसकी उत्पत्ति संकल्प की स्वतन्त्रता का परिणाम है। इसका सम्बन्ध आन्तरिक भावना से है अतः इसका अन्त अन्तःकरण में परिवर्तन से सम्भव है। ईसाई मान्यता के अनुसार अन्तःकरण परिवर्तन प्रायश्चित और प्रार्थना से सम्भव है। इसके अनुसार ईसा मसीह के उपदेश में श्रद्धा और उनके मार्ग का अनुगमन ही मुक्ति का मार्ग है। ईसाई धर्म की मान्यता के अनुसार सभी लोग शाश्वत जीवन के अधिकारी नहीं हैं। इसके अनुसार कुछ लोग ही इसके अधिकारी हो सकते हैं। शाश्वत जीवन एक पुरस्कार है जो कुछ लोगों को ही प्राप्त होता है। इसे धार्मिक व्यक्ति प्राप्त करते हैं, अधार्मिक व्यक्ति तो नरक के अधिकारी होते है। शाश्वत जीवन प्राप्त करने के लिए ईसा मसीह के उपदेशों में श्रद्धा आवश्यक है। उनके उपदेशों के अनुसार कार्य करना ही धार्मिक आचरण है। ईसा मसीह ही मानव के उद्धारक हैं, वे ही पापों से क्षमा दिलवाने में समर्थ हैं।

यहूदी धर्म में प्रारम्भ से ही यह धारणा रही है कि धरती पर स्वर्ग का राज्य स्थापित होगा जिसके लिए मसीहा का आगमन होगा। इसके अनुसार मसीहा ही

राज्य का सबसे बड़ा अधिकारी और शासक होगा। यहूदी धर्म के अनुयाईयों ने ईसा मसीह को मसीहा के रूप में स्वीकार नहीं किया। ईसाई धर्म के अनुसार स्वर्ग का राज्य ईश्वरीय संकल्प का राज्य है। इस राज्य के नागरिक वे हो सकते हैं जो अपने संकल्प को ईश्वरीय संकल्प से मिला दें। ईसा मसीह स्वर्ग के राज्य की आध्यात्मिक व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार स्वर्ग का राज्य मनुष्य के भीतर है। ईसा मसीह के अनुसार स्वर्ग का राज्य राई के एक दाने के समान है। वह सबसे छोटा बीज है किन्तु खेत में लगा देने पर बढ़कर वह वृक्ष बन जाता है। वे कहते है कि स्वर्ग का राज्य खमीर के सामन है जिसको किसी स्त्री ने तीन पसेरी आटे में मिला दिया और मिलकर पूरा आटा खमीर बन गया। वे यह भी कहते हैं कि स्वर्ग का राज्य एक व्यापारी के समान है जो एक अच्छे मोती की प्रतीक्षा में है। मोती मिल जाने पर वह अपना पूरा माल बेचकर मोती ले लेता है। इन उक्तियों की व्याख्या भिन्न–भिन्न प्रकार से की जाती है। इन उक्तियों का सार रूप में आशय यह है कि स्वर्ग का राज्य मनुष्य के भीतर है। अज्ञान के कारण मनुष्य इसे पहचानता नहीं। जब उसे ज्ञान हो जाता है तो वह सबकुछ छोड़कर इसे बहुमूल्य मोती के समान अपना लेता है। उसे कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। ईसा मसीह ने इस राज्य को इस धरती पर दीन दुखियों में पाया और उन्होंने अपने को उद्धारक सिद्ध किया।

ईसाई धर्म भी शैव–सिद्धान्त की तरह भक्ति मार्गी धर्म है। ईसाई धर्म में ईश्वर की भक्ति, उपासना तथा प्रार्थना को मुक्ति प्राप्ति का साधन माना गया है। ईसाई धर्म में प्रार्थना का विशेष महत्व है। प्रार्थना व्यक्तिगत रूप से तथा सामूहिक रूप से भी की जाती है। व्यक्तिगत प्रार्थना कहीं भी और किसी भी समय की जा सकती है। सामूहिक प्रार्थना चर्च में सम्पादित की जाती है। प्रार्थना में आन्तरिक प्रार्थना अन्तर्मन से अथवा हृदय से की गई प्रार्थना को विशेष प्रभावोत्पादक माना गया है। ईसाई धर्म में योग के किसी रूप में प्रचलित होने की बात नहीं मिलती है। आधुनिक काल में कुछ ईसाई साधक योग आधारित तकनीकों के प्रचलन का प्रयास करते पाये जाते हैं। ईश्वर का ध्यान करने की बात अवश्य ईसाई धर्म में पायी जाती है। ईसाई धर्म में भी यह बात मानी गई है कि ईश्वर की कृपा से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। प्रार्थना आदि के अतिरिक्त ईसाई धर्म में नैतिक सद्‌गुणों के परिपालन पर आग्रह किया जाता है। ईसाई धर्म में प्रेम को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना गया है। इसके अनुसार समस्त मानव जाति से प्रेम का व्यवहार करना चाहिए।

शैव–सिद्धान्त धर्म में मुक्ति की प्राप्ति में गुरू की भूमिका को महत्वपूर्ण माना गया है तो ईसाई धर्म में मसीहा की भूमिका को महत्वपूर्ण माना गया है। दोनों ही

धर्मों की एतद्सम्बन्धी अवधारणा में बहुत साम्य पाया जाता है। शैव-सिद्धान्त धर्म में गुरू को ईश्वर रूप माना जाता है तो ईसाई धर्म में मसीहा को ईश्वर रूप माना जाता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर स्वयं गुरू रूप में प्रकट होकर साधक का मार्गदर्शन करता है अथवा शिवज्ञान प्राप्त गुरू स्वयं ईश्वर के समान होता है। ईसाई धर्म की मान्यताओं के अनुसार मसीहा ईश्वर द्वारा भेजा गया दूत होता है। ईसाई धर्म में ईसा मसीह को ईश्वर का अवतार माना जाता है। ईसाई धर्म की 'त्रिमूर्ति' की अवधारणा के अनुसार ईश्वर स्वयं को तीन रूपों- पिता (ईश्वर), पुत्र (ईसा मसीह) तथा पवित्र आत्मा के रूप में अभिव्यक्त करता है। इस दृष्टि से ईसा मसीह ईश्वर के अवतार अथवा ईश्वर के ही रूप हैं। ऐसी मान्यता है कि ईसा मसीह मानवों की भलाई के लिये अथवा उद्धार के लिए ही पृथ्वी पर अवतरित हुए तथा आजीवन इस कार्य में लगे रहे।

प्रार्थना आदि के अतिरिक्त ईसाई धर्म में कष्ट सहन को भी मुक्ति प्राप्ति के साधन के रूप में लिया जाता है। इसके अनुसार कष्ट सहने से मनुष्य का आत्म-परिष्कार होता है। ईसाई धर्म में दूसरों की भलाई अथवा उद्धार के लिए कष्ट सहने की बात भी प्रचलित है। ईसा मसीह के लिए कहा जाता है कि वह मानवमात्र के उद्धार के लिए क्रास का दुःख उठाये।

मुक्ति की अवस्था के विषय में शैव-सिद्धान्त तथा ईसाई धर्म में बहुत सी बातों को लेकर साम्य देखा जा सकता है। दोनों धर्म इस बात को मानते हैं कि मुक्ति की अवस्था में मनुष्य अपनी पूर्वावस्था अथवा अपनी मौलिक अवस्था अथवा अपनी वास्तविक अवस्था को प्राप्त करता है, मुक्ति में कुछ नवीन अवस्था प्राप्त कर लेने की बात नहीं मिलती। शैव-सिद्धान्त की मान्यता के अनुसार आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, पूर्ण तथा विभु है। मुक्ति की अवस्था में आत्मा अपने पूर्ण रूप में प्रकाशित हो जाता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में ईश्वर के समान है किन्तु वह स्वयं ईश्वर नहीं है। ईश्वर के तुल्य होते हुए भी आत्मा को ईश्वर का सेवक तथा ईश्वर को उसका मालिक ही कहा गया है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार मुक्ति की अवस्था में आत्मा शिव लोक में शिव के सान्निध्य में रहता है तथा शिवानन्द का भोग करता है। ईसाई धर्म में भी कुछ इस तरह की बात मिलती है। ईसाई धर्म की मान्यता के अनुसार ईश्वर ने मानव को अपने जैसा, अपने अनुरूप अथवा अपनी अनुकृति के रूप में बनाया। इसे अपने ही लोक में अथवा ईश्वर के राज्य में या स्वर्ग में ही रखा। इस दृष्टि से ईश्वर एवं मानव में कुछ साम्य अथवा तुल्यता देखी जा सकती है। मानव ईश्वर

की कृति है तथा ईश्वर पर निर्भर है, इसलिये वह ईश्वर के बराबर का तो नहीं है किन्तु अपने वास्तविक आदिम स्वरूप में ईश्वर की अनुकृति अवश्य है। मुक्ति की अवस्था में मानव पुनः अपनी वास्तविक आदिम अवस्था को प्राप्त कर लेता है। ईसाई धर्म भी इस बात को मानता है कि मुक्ति की अवस्था में मानव ईश्वर के लोक में, ईश्वर के राज्य में अथवा स्वर्ग में ईश्वर के सान्निध्य में रहता है। इस प्रकार शैव–सिद्धान्त तथा ईसाई धर्म में मुक्ति की अवधारणा को लेकर पर्याप्त साम्य देखा जा सकता है।

उपसंहार

शैव–सिद्धान्त और ईसाई धर्म के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दोनों धर्मों के मूल भाव अथवा सार तत्त्व को देखा जाय तो उनमें कोई मूलभूत अन्तर अथवा विरोध नहीं है। दोनों धर्मों का साध्य एक ही है। और वह है मानव मात्र की भलाई अथवा कल्याण अथवा उद्धार। दोनों ही धर्म जीवात्मा (मानव) का अनादि बन्धन से उद्धार करने का मार्ग बताते हैं। इस अनादि बन्धन को शैव–सिद्धान्त आणव मल कहता है तो ईसाई धर्म इसे आदि पाप (Original sin) कहता है। ईश्वर जीवात्मा की भलाई करना चाहता है तथा सृष्टि के माध्यम से जीवात्माओं की भलाई करता है। वह गुरू अथवा पैगम्बर या मसीहा के रूप में प्रकट होकर मानव के कल्याणार्थ उसे राह दिखाता है। इस मूल भाव को केन्द्र में रखकर दोनों धर्मों को समझा जा सकता है। दोनों धर्मों में जो अन्तर पाया जाता है वह केवल उनके बाह्य रूप, वाह्याडम्बर, कर्मकाण्ड को लेकर है। यह कहा जा सकता है कि दोनों धर्मों का साध्य एक है। साधन को लेकर दोनों में अन्तर पाया जाता है।

दोनों धर्मों के तुलनात्मक अनुशीलन से एक बात स्पष्ट होती है कि सत्य की अनुभूति तो एक है किन्तु उसके वर्णन की शैली भिन्न–भिन्न है। सभी धर्म एक ही सत्य का साक्षात्कार करते हैं किन्तु जब उस सत्य का सैद्धान्तिक प्रतिपादन करने लगते हैं तो उनमें विभिन्नतायें आ जाती हैं। इस विभिन्नता के आधार पर यह कहना उचित नहीं है कि सभी धर्म अलग–अलग सत्य का प्रतिपादन करते हैं। धर्म सत्य की उच्चतर अनुभूति पर आधारित हैं। भारतीय मान्यता के अनुसार सत्य की उच्चतर अनुभूति का वर्णन भाषा में अथवा सामान्य बौद्धिक स्तर के साधनों द्वारा करना सम्भव नहीं है। धर्म अपने उत्तरदायित्व निर्वाहार्थ दूसरों को सत्य का ज्ञान कराने हेतु सत्य का वर्णन करने का प्रयास करता है। इस वर्णन में उपमाओं, रूपकों, दृष्टान्तों आदि का सहारा लेना पड़ता है। वर्णन चूँकि सामान्य बौद्धिक स्तर पर आकर किया जाता है इसलिये वर्णनकर्ता के बौद्धिक स्तर से वह प्रभावित होता है। वर्णनकर्ता की वर्णन शैली उसकी शिक्षा, संस्कृति, परिवेश आदि से प्रभावित होती है। किसी भी विशेष अनुभूति का वर्णन यदि विभिन्न लोगों को करने को कहा जाय तो निश्चित ही विभिन्न लोग उसका वर्णन विभिन्न प्रकार से करेंगे। यही कारण

है कि कबीर, शंकराचार्य, मीरा, सूरदास आदि के वर्णन शैली में अन्तर पाया जाता है। इस दृष्टि से यदि विभिन्न धर्मों के प्रतिपाद्य को देखा जाय तो हमें उनमें विरोध की जगह समरसता दिखाई देगा। हम धर्म के सार तत्त्व को समझ पायेंगे तथा हमारे अन्दर धार्मिक सद्भाव उत्पन्न होगा तथा विश्वबन्धुत्व की कल्पना साकार होने लगेगी।

ग्रन्थ-सूची

शैव-सिद्धान्त धर्म

1. Meykaṇṭa Cāttiram (Mūlamum Uraiyum), ed. Kanchi Nakalinga Mudaliar, (Madras: 1897)
2. Meykaṇṭa Cāttiram (Cittānta Cāttiram), Dharmapuram Adhinam: 1942.
3. Meykaṇṭa Cāttiram Patināṅku (Mūlamum Uraiyum) 2 Vols. Madras : The south India Śaiva Siddhānta works Publishing Society, 1969.
4. Paṉṉiru Tirumurai Peruntiraṭṭu, Tinnelveli, Madras : The South India Śaivasiddhānta works Publishing society, 1961.
5. Siddhānta Attakam, Dharmapuram; Dharmapuram Adhinam, 1970.
6. Karaikhālammaiyar, The Arputa Tiruvantāti, ed., Kārāvēlane, Pondichery : Institute Francai sd' Indologie, 1956
7. Mānikkavācakar, Tiruvācagam, G.U. Pope's Text, Oxford : At the Clarendon Press, 1900.
8. Tirumūlar, Tirumantiram, 2 Vols, Madras : The south India Śaiva Siddhānta works Publishing Society, 1974, 1975.
9. Umāpati Śivācārgar, Śivaprakāśam, Madras : The South India Śaiva Siddhānta works Publishing Society, 1969.
10. Umāpati Śivācāryar, Tiruvaruṭpayaṉ, Madras : The South India Śaivasiddhānta works Publishing Society, 1968
11. Umāpati Śivācāryar, Viṇāvenbā, Madras : The South India Śaiva Siddhānta works Publishing Society, 1968.

12. Umāpati Śivācāryar, Porripahrodai, Madras, The South India Śaiva Siddhānta works Publishing Society, 1968.

13. Umāpati Śivācāryar, Kodikkavi,, Madras, The South India Śaiva Siddhānta works Publishing Society, 1968.

14. Umāpati Śivācāryar, Neñcuvidutūtu, Madras, The South India Śaiva Siddhānta works Publishing Society, 1968.

15. Umāpati Śivācāryar, Unmaineri Vilakkam, Madras, The South India Śaiva Siddhānta works Publishing Society, 1968.

16. Umāpati Śivācāryar, Saṅkarpa Nirākaraṇam, Madras : The South India Śaiva Siddhānta works Publishing Society, 1968.

17. Umāpati Śivācāryar, Tevāra Aruḷ muṛaittirattu, Madras : The South India Śaiva Siddhānta works Publishing Society, 1961

18. Aghoraśiva, "Bhogakārikāvṛtti," In Asṭaprakaraṇa 2:2. Edited by N. Kriṛṇa Sāstri, Devakottai, South India : Śaiva Siddhānta ParipālanaSaṁgham, 1925.

19. Aghoraśiva. "Mṛgendra Vṛtti Dīpikā." In Sri Mṛgendram, Edited by N. Krisṇa śāstri and K. M. Subramani Śāstri. Devakottai, South India : Śaiva-Siddhānta Paripālana Saṁgham, 1928.

20. Aghoraśiva. "Nādakārikāvṛtti." In Asṭaprakaraṇa 2:3. Edited by N. Krisṇa, Śāstri, Devakottai, South India : Śaiva Siddhānta Paripālana Saṁgham, 1925.

21. Aghoraśiva. "Ratnatrayollekhini." In Asṭaprakaraṇa, 2:1 Edited by N. Krisṇa Śāstri, devakottai, South India: Śaiva Sidhānta Parīpālana Saṁgham, 1925.

22. Aghoraśiva. "Tattvaprakāśikāvyākhyā." In Asṭaprakaraṇa 1:1. Edited by N. Krisṇa śāstri, devakottai, South Indiạ : Śaiva Siddhānta Paripālana Saṁgham, 1923.

23. Aghoraśiva. " Tattvasaṁgrahavyākhyā." In Aṣṭaprakaraṇa 1:2. Edited by N. Krisṇa Śāstri, Devakottai, South India : Śaiva Siddhānta Paripālana Saṁgham, 1923.

24. Aghoraśiva. "Tattvatrayanirṇayavyākhyā". In Aṣṭaprakaraṇa 1:3. Edited by N. Krisṇa Śāstri, Devakottai, South India : Śaiva Siddhānta Paripālana Saṁgham, 1923.

25. Bhatt, N.R. ed., Ajitāgama, 2 Vols. Pondichery, South India : I' Institute Francais d' Indologie, 1964-67.

26. Bhaṭṭ Nārāyanakaṇṭha, " Mṛgendravṛtti." In Śri Mṛgendram. Edited by N. Krisṇa Śāstri and K.M. Subramani Śāstri, Devakottai, South India : Śaiva Siddhānta Paripālana Saṁgham, 1928.

27. Board of Scholars, The Liṅga Purāṇa, 2 parts. Ancient Indian Tradition and Mythology Series, Varanasi : Motilal Banarasidass, 1972.

28. Bhoja, Tattvaprakāśīkā, Edited with the commentary of Aghoraśiva by N. Krisṇa Śāstri, Astaprakaraṇa, 2 parts, Devakottai : Śaiva Siddhānta Saṁgham, 1923-1925,

29. Corpus Christianorum. Series Latina. Vols. 1-2 Turnhout, Belgium, 1954.

30. Cyril of Alexandria. De incarnatione Unigeniti in Sources Chritiénnes. Paris : Cerf, 1964.

31. Dikṣita, Appaya. Śivārkamaṇidīpikā : The Brahma Sūtra Bhāṣya of Srikaṇṭhācārya with the commentary Śivārkamaṇi Dīpikā by Appaya Dikṣita. Edited by Pandit R. Halasyanatha Śāstri, 2 Vols. Bombay: Nirṇaya Sagar Press, 1908.

32. Harvey, W.W., ed. Sancti Irenai... Adversus Haereses. 2 Vols, Cambridge : Typis Academicis, 1857.

33. Hoisington, H.R. Ś iva Jñāna potham." Journal of the American Oriental Society 4 (1853-54): 31-102.

34. Rāmakantha II " Mokṣakārikāvṛtti." In Aṣṭaprakaraṇa 2.4. Edited by N. Krisṇa Śāstri. Devakottai, South India: saiva Diddhānta Paripālana Saṁgham, 1925.

35. Rāmakantha II. "Paramokṣanirāskārikāvṛtti." In Aṣṭaprakaraṇa 2:5 Edited by N. Kriṣṇa Śāstri, Devakottai, South India: Śaiva Siddhānta Paripālana Saṁgham, 1925.

36. Sadyojyoti. "Tattvasaṅgraha." In Aṣṭaprakaraṇa 1:2. Edited by N. Krisṇa Śāstri. Devakottai, South India: Śaiva Siddhānta Paripālana Saṁgham, 1923.

37. Śastri, A. Mahadeva, ed. Śaiva Upaniṣads. The Adyar Library Series, No. 9. Madras: The Adyar Library 1950.

38. Śāstri, N. Krisṇa, Aṣṭaprakaraṇa, 2 parts. Devakottai, Śaīva Siddhānta Paripālana Saṁgham, 1923-25.

39. Śāstri, N. Kriṣṇa and Śāstri K. M. Subramani, eds. Sri Mṛgendram. Devakottai, South India: Śaiva Siddhāntam Parīpālana Saṁgham, 1928.

40. Śāstri, T. Gaṇapati. The Tattvaprakāśa of Sri Bhoja Deva with the Commentary Tātparyadīpikā of Srikumāra., Trivandrum Sanskrit Series, No. 68. Trivandrum: Government Press, 1920.

41. Śivāgrayogin, Śaivaparibhāsā, Edited by H.R. Rangaswamy Iyengar and R. Ramaśāstrin Oriental Research Institute Publications, Sanskrit Series, No. 90. Mysore: Government Press 1950.

42. Srīkumāra, The Tattvaprakāśa of Sri Bhoja Deva with the commentary Tātparyadīpikā of Srikumara. Edited by T. Ganapati Śāstri. Trivandrum Sanskrit Series, no. 68. Trivandrum: Government Press, 1920.

43. Antoine, R., et al. Religious Hinduism, Bombay. St. Paul Publications, 1966.

44. Ayyangar, P.T. Srinivasa. Bhoja Rāja. Annamalai University Historical Series, Madras, 1931.

45. Ayyar, C.V. Narayana, Origin and Early History of Śaivism in South India, Madras Univesity Historical series, No. 6. Madras: University of Madras, 1969

46. Bālasubramaniam, K.M., Speical Lecture on Śaiva Siddhānta, Annamalai South India : The Annamalai University, 1959.

47. Dasgupta, Surendranath, A History of Indian Philosophy, Vol. 5: Southern Schools of Śaivism, 5 Vols. Cambridge: University of Cambridge, 1962.

48. Devasenapathy, V.A. Śaiva Siddhānta: As expounded in the Śiva-jñāna-Siddhiyar and its Six commentaries, Madras University Philosophical series No. 7, Madras: University of Madras, 1974.

49. Anonymous, Kodikkavi in the Collection of Meykanta Cāttiram, Madras, 1897.

50. Anonymous, Porripahṛōḍai in the collection of Meykanṭa Cāttiram, Madras, 1897, pp. 723-36.

51. Anonymous, Saṅkarpa Nirākaraṇam in the collection of Meykanta Cāttiram, Madras, 1897, pp. 767-856.

52. Anonymous, Unmaineri Vilakkam, in the Collection of Meykaṇta Cāttiram, Madras, 1897, pp. 763-66.

53. Aruṅaivadivelu Mudaliar, Tiruvararuṭpayan-Viḷakkavurai, Dharmapuram Adhinam: 1974.

54. Ashtavadanampuvaikaliyanasundaram, Nencuviḍututu.

55. Gñānaprakash Desikar, Sankarpa Nirākaraṇam, Madras, The South India Śaiva Siddhānta works Publishing Society, 1968.

56. Ilakkanam Cidambara Nathamunivar, Śivaprakāśam, Reprint, Tiruvāvaduturai Adhinam, 1953.

57. Isvaramurthi Pillai, Vīnāvenbā Padavurai (Tinnelveli).

58. Isvaramurthi Pillai, Porripahrodai Padavurai and Karutturai ed., Ramalinga Tambiran Dharmapuram Adhinam: 1979, Publication No. 746.

59. Kumarvelu Pillai V. Vināvenbā- Ārāyacci, 1950.

60. Manikkavācagam, Tiruvarutpayan, Madras: The South India Śaiva Siddhānta works Publishing Society, 1958.

61. Meenakshisundaram Pillai (ed.), Śivaprakāśam with commentary, Tiruvavaduturai Adhinam, 1967.

62. Meenakshisundaram Pillai (ed.), Tiruvarutpayanpazhayavurai, Tiruvavaduturai Adhinam, 1953.

63. Nallāśīvadevar, Śivaprakaśam-Cindanaivurai, ed., Madras, S.S. Mahasamajam, 1934.

64. Nallāśivadevar, Anavarath Vinayakam Pillai, Madras; S.S. Mahasamajam, 1934.

65. Namasivaya Tambiran, Vināvenbā Pazhayavurai, ed., T.S. Meenakshisundaram Pillai, Tiruvavaduturai Adhinam, 1953.

66. Nirambavazhkiya Desikar, Tiruvarutpayan.

67. Ramalinga Mudaliar, Unmaineri Vilakkam-Ārāyacai, Kanchipuram, Meykandar Kazhakam, 1948.

68. Shivapadasumndaram, Tiruvarutpayan-Vilakkavuraiyutan, Jaffna, Śaiva Paripalan Sabaiyar, 1934.

69. Śivaprakasar (Madurai), Śivaprakāśam, Reprint in 2 Vols: Podu unmai; Tiruvavaduturai Adhinam, 1966 Nos 212, 214.

70. Srinivacarya T.A., Śivaprakāśam-Cīrmaikkatturai, 3 Vols., Tiruvāvaduturai Adhinam 1960, 61, 62.

71. Srinivacarya T.A., Tiruvarutpayannūlin Terivukkatturai, Tiruvāvuduturai Adhinam, 1957.

72. Srinivacarya, T.A. Viṇāvenba-Viṭai Vilakkakkaṭṭurai, Tiruvāvaduturai, Adhinam, 1956.

73. Srinivacarya T.A., Poṟṟipahrodai-Eṟpukkaṭṭurai, Tiruvāvaduturai Adhinam, 1958.

74. Srinivacarya T.A. Kodikkavi Kuṟippu Vilakka Kaṭṭurai, Tiruvāvaduturai Adhinam, 1956.

75 Sriniracarya T.A., Saṅkaṟpa Nirākarṇam-Cārpukkaṭṭurai, Tiruvāvaduturai Adhinam, 1959.

76. Subramania Pillai K., Śivaprakāśam-Prose, Dharmapuram Adhinam, 1962.

77. Subramania Pillai K., Tiruvaruṭpayaṉ, Vināvenbā Poṟṟipahrodai, Kodikkavi, Neñcu-vidututu and Uṇmaineri Vilakkam-Prose, Dharmapuram Adhinam, 1962.

78. Subramama Pillai K., Saṅkarpa Nirākaraṇam, Prose Dharmapuram Adhinam, 1963.

79. Subramania Pillai K., Tiruvarutpayan-Teḷivuraīyutan, Tiruppanandal, Kasimadam, 1978.

80. Subramamia Pillai K., Kodikkavi Vināvenbā-Telivuraīyuṭṇ, Tiruppanandal, Kāsimadam, 1980.

81. Tiruvilangam, Śivaprakāśam, Putturai, Jaffna, The Jaffna Co-operative Tamil Books Publication and Sales Society, 1974.

82. Tiruvurukamamalai Adigal, Śivaprakāśam, Reprint, Tinnelveli, 1962.

83. Vajravelu Mudaliar K., Tiruvaruṭpayan, Jaffna Śaivāgama Paripalan Saṅgam, 1967.

84. Velappa Desikar & Namaṣivaya Tambiran, Poṟṟapahṛodai-Pazhayavurai.

85. Vellaivaranam, Tiruvaruṭpayan.

86. Arokiasamy A.P., Doctrine of Grace in the Śaiva Siddhānta, Trichinopoly St. Joseph's Industrial School Press, 1935.

87. Arunachalam M., An Introduction to the History of Tamil Literature, Tiruchitrambalam, Gandhi Vidyalayam, 1974.

88. Balasubramania Mudaliar M., Śaiva Siddhānta, Annamalainagar, Annamalai University, in Collected Lectures on Śaiva Siddhānta, 1965.

89. Bhandarkjar R.G., Vaisanavism, Śaivism and Minor Religious systems, Varanasi, Indological Book house, 1965.

90. Bhattacharya B., Śaivism and the Phallic world, 2 Vols, New Delhi-Bombay-Calcutta: Oxford & 9 BH Publishing Co., 1975.

91. Dandekar, R.W., Vaiṣnavism and Śaivism: A fresh Look, Iphal: 1977.

92. Dorairangaswamy M.A., The Religion and Philosophy of Tevaram Books I-II (Madras: University of Madras, 1958.

93. Fred W. Clothy & Bruce Long. (Editors) Experience of Śiva: Encounters with a Hindu Deity, New Delhi, Manohar Publications, 1983.

94. Frene Alberecht (Ed.), Grace in Śaiva Siddhānta, Vedānta Islam and Christiamity, Madurai, Tamil Nadu Theological Seminary, Arasaradi, 1975.

95. Ghosh O., The Dance of Shiva and other Tales from India, New York, 1965.

96. Ghose Rama, Grace in Śaiva Siddhanta: A study of Tiruvaruṭpayaṇ, Varanasi Ashutosh Prakashan Sansthan, 1984.

97. Gñanaprakasar S., Philosophical Śaivism or Śaiva Siddhānta, Jaffna, St. Joseph's Catholic Press, 1917.

98. Govindāchārya, A., Divine Wisdom of the Draviḍa Saints, Madras, 1902.

99. Gonda J. Visṇuism and śaivism, London, The Athlone Press, 1970.

100. Gopal Chetty D., New Light upon Indian Philosophy or Swedenberg and Śaiva Siddhānta, London, J.M. Hent & Sons, 1923.

101. Hoisington H.R., Tattua Kattalai, Law of the Tatturam, A Synopsis of the Mystical philosophy of the Hindus, Translation from the Tamil with notes Pasumalai, Union Theological Seminary.

102. Hoisington H.R., The śaiva Siddhānta Sūtras and Commentary Translated into English,

103. Ilakkuvanar S., Tolkaphiyam (in English), with Critical studies Madurai, Kural Neri Publishing House Pvt. Ltd. 1970.

104. Jesudasan C., A History of Tamil Literature Calcutta, 1961.

105. Kandaswami Mudaliar T.S., Sources of śaiva Siddhānta Philosophy, Annamalainagar, Annamalai University, in Collected lectures on Śaiva Siddhānta, 1965.

106. Kanakashbhai V., the Tamils Eighteen Hundred years Ago, Madras, 1904.

107. Kantimathinatha Pillai V.P., "The Cult of Śiva or Lessons in Śivajñāṇabotham, Tirunelveli, Madras, The SISSWPS, 1961.

108. Katiresu Subramaniyar. A. Hand-Book of Śaiva Religion, a Hindu Religion of Bhakti, Devotion and Love, Madras, Natesan & Co., 1945.

109. Kothandapani Pillai and Others, Collected Lectures on Śaiva Siddhānta, 1963,1973, Annamalainagar, Annamalai University, 1978.

110. Kramrisch Stella, The Presence of Ś iva, Princeton, Princeton University, Press, 1984.

111. Kulandran S., Grace in Christianity and Hinduism London; Lutter worth Press, 1964.

112. Mahadeva Chakravarti, The Concept of Rudra-Śiva Through the Ages, Delhi-Varanasi-Patna-Madras, Motilal Banarasidass, 1986.

113. Mahadevan T.M.P. (Edt.), Collected Papers of Prof. S.S. Surya Narayana Sastri, Madras, University of Madras, Motilal Banarasidass, 1961.

114. Mahadevan T.M.P. (Edt.), Śaiva Siddhānta Philosophy, Eastern and Western, London, 1952.

115. Mahadevan T.M.P. (Edt.), The Idea of God in Śaiva Siddhānta, Annamalainagar, Annamalai University, in Collected Lectures on Śaiva Siddhānta, 1965.

116. Manickam V.Sp., The Tamil Concept of Love, Tirunel Vol.2 Madras, The SISSWPS, 1962.

117. Maraimalai Adigal, The Śaiva Siddhānta as a philosophy of Practical Knowledge, Madras, The SISSWPS, 1966.

118. Meenakshisundaram T.P., Philolsophy of Tiruvalluvar, Madurai, Madurai University, 1969.

119 Murugesa Mudaliar N., The Relevance of Śaiva Siddhānta Philosophy, Annamalainagar, Annamalai University, 1968.

120. Murugesa Mudaliar N., Sankarpanirakaranam of Sri Umāpati Śiva cārya; A Comparative study of the outer and inner schools of philosophy with reference to Śaiva Siddhānta as the End of Ends, Dharmapuram, Dharmapuram Adhinam, 1976.

121. Nallaswamy Pillai J.M., Studies in Śaiva Siddhānta At the Meykandan Press, 1911.

122. Narayana Ayyar C.V., Origin and Early History of Śaivism in south India, Madras, University, 1939, Reprint 1874.

123. Natarajan B., The city of the Cosmic Dance, Chidambaram, New Delhi, 1974.

124. Nilakanta Sastri, The Culture and History of the Tamils, Calcutta, 1964.

125. Nilakanta Sastri, K.A., 'An Historical sketch of Śaivism' in the Cultural Heritage of India, Vol iv, Calcutta, 1956.

126. Pandey K.C., An Outline of History of Śaiva philosophy, Delhi, Varanasi, Patna, Madras, Motilal Banarasidass, reprint, 1986.

127. Paranjoti v., Śaiva Siddhānta, London, Luzac & Co. Ltd.; 1954.

128. Piet John H., A Logical Presentation of the Śaiva Siddhānta Philosophy, Madras, Bombay, Mysore, Colombo, The Christian Literature Society for India, 1952.

129. Ponniah V., The Śaiva Siddhānta Theory of Knowledge, Annamalainagar, Annamalai University, 1962.

130. Ramakrishnan V., Perspective in Śaivism, Madras, University of Madras, 1978.

131. Ramanujachari, R., Śaiva Siddhānta, Annamlainagar, Annamalai University, in Collected lectures, 1965,

132. Ramanujan A.K., Speaking of Śaiva, Great Britain, Penguin Classics, 1973.

133. Rohan-Adunuvila, Śaiva Siddhānta Theology, A Context for Hindu- Christian Dialogue, Delhi, Varanasi, Patna, Madras, Motilal Banarasidass, 1985.

134. Rtna Navaratnam, A new Aproach to Tiruvācagam, Annamalainagar, Annamalai University, 1971.

135. Rtna Navaratnam, Tiruvācagam, The Hindu Testament of Love, Bombay, Bharatiya Vidya Bhavan, 1975.

136. Rtna Navaratnam, Siddhānta Śaivism in Essence and Manifestation, Annamalainagar, Annamalai University, 1979.

137. Sabhapati Mudaliar & Sadāśiva Mudaliar, A. Catechism of the Śaiva Religion, Madras, 1963.

138. Savaratna Mudaliar S., Essentials of Hinduism in the light of Śaiva Siddhānta, Madras, At the Meykandan Press, 1913.

139. Satchithanantha Pillai S., Śaiva Siddhānta, Annamalainagar, Annamalai University, in Collected Lectures, 1965.

140. Shanmuga Mudaliar A., Śaiva Āgamas and their relationship to vedas, Madras, Published by Sri Kapaleeswarar Temple, 1972.

141. Shivapadasundaram S., The Śaiva School of Hinduism, London, George Allen & Unwin Ltd. 1934.

142. Siddhalingaihn T.B., Origin and Development of Śaiva Siddhānta, upto 14th Century, Madurai, Madurai Kamaraj University, 1979.

143. Siddhāntashastree, R.K., Śaivism Through the Ages, New Delhi, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., 1975, reprint 1977.

144. Valiaveetil Chacko, Liberated Life, Madurai Madras, Dialogue Series, No.1, 1980.

145. Vammikinathan G., Pathways to God through Tamil literature, Through the Tiruvacagam, New Delhi, 1971.

146. Varadachari K.C., Bhakti Cult in South India, Professor P. Sunderam Pillai Commemoration Volume, Madras, 1957.

147. Venkataramanyya M., Rudra - Śiva, Madras, University of Madras, 1941.

148. Yocum glenn E., Hymns to the Dancing Śiva, A study of Manikkavacagar's tiruvacagam, New Delhi, Heritage Publishers, 1982.

149. Yocum Glenn E. Śaiva Bhakti, with an Examination of Siddhānta Philosophy, London Madras, CLS, 1902.

150. Dhavamony, Mariasoosai. Love of God in Śaiva Siddhānta, Oxford: Oxford University Press, 1971.

151. Farquhar, J.N. An outline of the Religious History of India. Oxford: Oxford University Press, 1920.

152. Filliozat, Jean, Les Āgama Cvaites?, In Rauravāgama. Edited by N.R. Bhatt. Publications de L'Institute Francais d'-Indologic, no. 18.2 Vols. Pondicherry, South India: L' Institute Francaisd' Indologie, 1961.

153. Hazra, R.C. Puranic Records on Hindu Rites and Customs. Dacca: Government Press, 1936.

154. Hulzch, E. Reports on Sanskrit Manuscripts in Southern India, 3 Vols, Madras: Government Press, 1891.

155. Jash, Pranabananda. History of Śaivism, Calcutta: Roy and Chaudhury, 1974.

156. Keith, A.B., A History of Sanskrit Literature. Oxford: Oxford University Press, 1928.

157. Larson, Gerald James, Classical Sāṁkkya. Delhi: Motilal Banarasidass, 1969.

158. Mādhava, Sarva Darśana Saṅgraha, Translated by E.B. Cowell and A.E. Gough, Chowkhamba Sanskrit Series, Vol. 10, London: Kegan Paul, Trench, Trubner and Company, Limited, 1961.

159. Matthews, Gordon. Śiva-Nāna-Bodham: A manual of Śaiva Religious Doctrine. James G. Forlong fund, Vol. 24. Oxford: University Press, 1948.

160. Murphy, Paul E. 'Triadic Mysticism: The Mystical Theology of the Śaivism of Kashmir' Ph.D. dissertation, Fordham University, 1978.

161. Pathak, V.S. 'Śaivism in Early Mediaval India as Known from Achaeological Sources" Bhārati: Bulletin of the College of Indology, No. 3 (1959-60).

162. Pereira, Jose. Hindu Theology: A Reader, Edited with an introduction and notes. New York: Doubleday Image book, 1976.

163. Pillai, J.M. Nallaswami, Periyapurānam, The Tamil University Publication Series, No. 4. Madras: Rajan and Co., 1955.

164. Pillai, J.M. Nallaswami, The Cult of Śiva or Lessons in Śivajñānabodhan, Madras: The South India Śaiva Siddhānta works Publishing Society, 1961.

165. Pope, G.U. Tiruvācagam. Oxford: Clarendon Press, 1900.

166. Sambandhan, P. Tirujñāna. 'Concept of Mukti in Śaivism." Madras University Journal (1970): 1970.

167. Sastri, K.A. Nīlakantha, A History of South India: London: Oxford University Press, 1966.

168. Śāstri, S.S. Sūryanārayaṇa, Collected Papers of Professor S.S. Sūryanārāyana Sāstri Madras: University of Madras, 1961.

169. Śāstri, S.S. Sūryanārayaṇa, Śivādvaita Nirṇaya of Appaya Diksita, Madras University, philosophical Series, No. 22, Madras: University of Madras, 1974.

170. Śāstri, S.S. Sūryanārāyaṇa, Śivādvaita of Srikanṭha. Madras University Philosophical Series, no. 2. Madras, University of Madras, 1972.

171. Schomerus, H.W. Der Śaiva Siddhānta, Leipzig: J.C. Hinrichs, 1920.

172. Śivaraman, K. Śaivism in Philosophical Perspective, Delhi: Motilal Banarasidass, 1973.

173. Jaehner, R.C., Hindu Scripture, London: J.M. Dent & Sons Ltd., 1966.

174. Sivarama Murti C., Naṭarāja in Art, Thought, and Literature, New Delhi, 1976.

175. Slater Gilbert, The Dravidian Elements in Indian Cultures, London, Benn Ltd., 1924.

176. Somasundaram Pillai J.M., Two thousand years of Tamil Literature, Madras, the SISSWPS, 1959.

177. Somasundaram Pillai J.M., Śiva-Nataraja, The Comic Dancer, Annamalainagar, Annamalai University, 1970.

178. Srinivasa Ayyangar T.R., Śaiva Upanishads Ed, by G. Srinivasa Murthi, Madras, The Adyar Library.

179. Srinivasa Aiyengar M., Tamil Studies Essays on the History of the Tamil People, Language, Religion and literature, Madras, Guardian Press, 1914.

180. Subramania Pillai G., Introduction and History of Śaiva Siddhānta, Annamalainagar, Annamalai University in Collected Lectures, 1965.

181. Subramania Pillai K., The Metaphysics of the Śaiva Siddhānta System, Madras, The SISSWPS, 1929. Reprint, 1958.

182. Subramania, K. R., Origin of Saivism and its history in Tamil Land, Madras, 1925.

183. Suddhananda Bharati (Yogi), Lights on Śaiva Siddhānta, Annamalainagar, Annamalai University, in Collected Lectures, 1965.

184. Suddhananda Bharati, The Grand Epic of Saivism, Madras, The SISSWPS, 1970.

185. Tambyah Issaac I, Psalms of A Śaiva Saint, London, Luzac & Co., 1925.

186. Thirugnana Sambandhan p., Sataratnasangraha of Sri Umāpati Śivācārya., Madras, University of Madras, 1973.

187. Thiruvilankar Canagarayar, Metaphysics of Śaiva Siddhānta, Śivajñāna Bodham, Columbo, Raja Press, 1961.

188. Vajravelumudaliar K., Śaiva Siddhānta Annamalainagar Annamalai University, in Collected Lectures 1965.

189. Vajra Velu Mudaliar K., Śaiva Siddhānta, Dharmapuram, Dharmapuram Adhinam, 1968.

190. Hoisington H.R., 'Śiva Pirakāsam (Light of Śiva)" in Journal of the American oriental Society Vol. IV (1853-54), pp. 127-244.

191. Nallaswami Pillai J.M., Tiruvaruṭpayan: Commentary and English Translation (1826) Reprint Dharmapuram Adhinam: 1958.

192. Nallaswami Pillai J.M., Vināvenbā, Dharmapuram, 1945.

193. Nallaswami Pillai J.M., Koḍikkavi, Siddhānta Trayam, Dharmapuram Adhinam, 1946.

194. Nallaswami Pillai J.M. Unmaineri Vilakkam, Siddhānta Trayam, Dharmapuram Adhinam, 1946.

195. Pope G.U., "Tiruvarutpayan" in Tiruvācagam, Oxford At the Clarendon Press 1900.

196. Ramchandran T.N., "Nenju Vidu Thoothu (Message through the Heart)' in Śaiva Siddhānta, XI/3 & 4 (1976), pp. 101-106; 131-135.

197. Ramchandran T.N., "Poorip Phahrotai (Mutiple Hymn of Praise)" in Śaiva Siddhānta, XII/3(1977) pp. 100-108.

पत्र-पत्रिका

1. Alalasundaram F., "The concept of God', Śaiva Siddhānta, XI (1976), pp. 136-38.
2. Agrawala V.S., Aṣṭamūrti Śiva: The Great God with eight Forms', Journal of the Oriental Institute (Baroda) XIV (1965) pp. 280-86.
3. Ambikaipakan (Ed), 'The Metaphysical Starting point of Der Caiva Siddhānta', Śaiva Siddhānta, 2 (1967) pp. 56-66.
4. Aravamuthan T.G., 'The authors of the holy Canon of Tamil Śaivism', The Quarterly Journal Mythic Society, XXV (1934), PP. 143-60.
5. Arumuga, Mudaliar S., 'Concepts of Religion in Saṅgam Literature and in Devotional Literature', Tamil Culture XI (1964), pp. 252-71.
6. Arunachalam M. "The Śaiva Paddhatis,' Śaiva Siddhānta, 2 (1967), pp. 89-101./
7. Arunachalam M., The Śaiva Āgamas', Śaiva Siddhānta.
8. Arunachalam M., Prārabda Karma and Grace,' Śaiva Siddhānta, 3 (1968), pp. 132-136.
9. Arunachalam M., 'Worship in the Āgamas', Śaiva Siddhānta, V (1970), pp. 155-64.
10. Arunachalam M., 'An Advaitin on Śaiva Siddhānta, Śaiva Siddhānta, X (1975), pp. 97-102.
11. Aura Atuk, 'Beginnings of Ling Cult in India, Annals of the Bhandarkar Institute, XIII (1934). pp. 149-53.
12. Balasubramanian R., 'A Critique Ramanuja's objections against the Advaita conception of avidyā', Journal of the Madras University, XLVI(1974).

13. Balasubramanian R., ' On the locus of avidyā, Journal of the madras, University, XLVII (1975).

14. Balasubramanian R., Avidyā and the illusery world' Journal of the Madras University LXVII (1976)

15. Balasubramanian R., On the nature and Evidence of perception; Indian Philosophical Annual, XIV (1980-80) pp. 215-233.

16. Balasubramania Mudaliar M. 'The Grace of Lord Śiva', Śaiva Siddhānta, XIII (1977), pp. 45-54.

17. Barnett L.D. Notes on the Śaiva Siddhānta', Le Museon X (1909), pp. 271-77.

18. Barnett L.D., The Śaiva Siddhānta', Siddhānta Deepikā, XI (1910) pp, 62-64; 101-03.

19. Balasubramanian p., .'On the Epistemic Status of Samasya: A Study with special reference to Śaiva Siddhānta', Indian Philosophical Annual, XIV (1980-81), pp. 237-52.

20. Basham A.L., 'Some Relfections on Dravidians and Aryans , Bulletin of the Institute of Traditional Cultures (Madras, 1963), pp. 285-94.

21. Devasenapathy V.A., 'Covenant between God and man,' Śaiva Siddhānta, I (1966), pp. 26-28.

22. Devasenapathy V.A., 'Śaiva siddhānta and Social concern', Śaiva siddhānta, I (1966), pp. 171-72.

23. Devasenapathy V.A., 'The Theistic Concept of Progress', Śaiva Siddhānta (1967) pp. 36-38.

24. Devasenapathy V.A., "Āṇavam in Mukti State,' Cittāntam June (1975) August (1975) Discussion by N. Murugesa Mudaliar and Rehinam Chattiyar.

25. Devasenapathy V.A., 'The concept of God,' Śaiva Siddhānta, XI (1976) pp. 15-20.

ईसाई धर्म

1. बुल्के, कामिल, (अनुवादक): न्यू 'टेस्टामेन्ट' (नयाविधान), धार्मिक साहित्य समिति, रांची, 1977।
2. वाल्द, एस. एन. और साह, आर. पी., (अनुवादक): 'धर्म ग्रन्थ', संत पौलुस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1965।
3. एक्रोयड, पीटर आर.: 'इस्राएली लोगों का इतिहास'' मसीही आध्यात्मिक शिक्षा माला, देहरादून, 1971।
4. धुलिया, मोहन एच.: 'नया नियम की पृष्ठभूमि'' मसीही आध्यात्मिक साहित्य समिति, लखनऊ, 1967।
5. नील, स्टीफन, (संपादक) 'बाइबिल ज्ञान-कोश'' मसीही आध्यात्मिक शिक्षा माला, बरेली, 1971।
6. फ्रोबर्ग, पी. ई.: 'धर्मशास्त्र-प्रवेशिका'' नार्थ इंडिया, क्रिश्चियन लिट्रेचर सोसाइटी, इलाहाबाद, 1962।
7. वुड, क्लेरेन्स एल.:'नया-नियम की भूमिका'', मसीही आध्यात्मिक शिक्षा माला, इलाहाबाद, 1969।
8. सादिक, इम्मानुएल, और त्रिहर्न, अलेनः बाइबिल अध्ययन की सहायक पुस्तिका'', हिन्द एस. पी. सी. के. दिल्ली, 1962।
9. स्टेन्ली, थोबर्न, सी.: 'पुराना-नियम की भूमिका, मसीही आध्यात्मिक साहित्य समिति, इलाहाबाद, 1968।
10. ह्वाइट, एल. फ्रेक्लिनः 'पुराना-नियम का धर्मविज्ञान,'मसीही आध्यात्मिक शिक्षा माला, बरेली, 1978।
11. योहन फाइस, ईसाई दर्शनः (इतिहास और सिद्धान्त) राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1982।
12. New English Bible, Oxford: Oxford University Press, 1970.
13. Suarez, Francisco, Opera Omnia. Vive's edition. Parisiis, 1856-1878.
14. Theodore of Mupusuestia. Catechetical Homilies 4.6 in Studie testi, Rome: Tipographia Vaticana, 1900.
15. Weyer, H. Ed. De Trimitate, Dusseldorf: Patmos-Verlag, 1962.

16. Florovsky, Georges, The Idea of Creation in Christian Philosophy." Eastern Church Quarterly & (Súpplement 1949): 64.

17. Kelly, J.N.D. Early Christian Dectrines. 5yh ed. London: Adam & Charles Black, 1977.

18. Moraes, George Mark. A History of Christia nity in India. Bombay: Manaktalas, 1964.

19. Pelikan, Jaroslav, The Christian Tradition, 5 Vols. Chicago: University of Chicago Press, 1972, Vol. 1: The Emergence of the Catholic Tradition (100-600).

20. Prestige, G.L. God in Patristic Thought, 2nd ed. London: S.P.C.K., 1950.

21. Richardson, Cyril C. Early Christian Fathers, New York : The MacMillan Company, 1970.

22. Schaff, P., ed. Creeds of Christendom. 6th ed. 2Vols. New York: Harper, 1919-31.

23. Wolfson, H.A. The Philosophy of the Church Fathers. 3rd ed. rev. Cambridge: Harvard University Press, 1970.

24. Allmen, J.J. von, Vocabulary of the Bible, Lutterworth Press, London, 1958.

25. Bauer, J.B., Encyclopedia of Biblical Theology, 3 vols, Sheed & Ward, London, 1970.

26. Brown, R.E., Fitzmyer, J.A. & Murphy, R. E., (editors), The Jerome. Biblical commentary 2 Vols., Geoffrey Chapman, London, 1968; Theological Publications in India, Banglore, 1972.

27. Conzelmann, Hans, An outline of the theology of the New Testament, SCM Press, London, 1969.

28. Dodd, C.H. The founder of Christianity, MacMillan Publishing Co., New York, 1976.

29. Heinislch, Paul, Theology of the Old Testament, The liturgical Press, College ville, Minnesota, 1950.

30. Jacob, Edmond, Theology of the Old Testament, Harper & Row, New york, 1958.

31. Leon-Dufour, Xavier, (editor), Dictionary of Biblical Theology, Geoffrey, Chapman, London, 1973. Theological Publications in India, Bangalore, 1973.

32. McKenzie, John L., The Power and the Wisdom. An Interpretation of the New Testament, Geoffrey Chapman, London, 1965.

33. Rad, Gerhard von, Old Testament Theology, 2Vols. Oliver and Boyd, Edinburgh, 1962-1965.

34. Richardson, Alan, A Theological word Book of the Bible, SCM Press, 1969.

35. Richardson, Alan, An Introduction to the Theology of the New Testament, SCM Press, London, 1961.

36. Rowley, H.H., Dictionary of Bible Themas, Nelson, London, 1968.

37. Stauffer, Ethelbert, New Testament Theology, SCM Press, London, 1968.

38. Vriezen, Th. C., An outline of Old Testament Theology, Basil Blackwell, Oxford, 1965.

39. Altaner, Berthold, Patrology, Nelson, London, 1960.

40. Augustine, The city of God, The Modern Library; New York, 1950.

41. Augustine, The Confession of St. Augustine (trl. by John K. Ryan), Doubleday, New York, 1962.

42. Barr, Robert, Main Currents in Early Christian Thought, Paulist Press, Glen Rock, N.J., 1966.